

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj.)**

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

गुप्तजी के काव्य
की
कारुण्यधारा
[भाव-चित्रावली सहित]

हरे ! तुम्हारी करुणाधारा
तारा - हाराकारा
घोती रहे धर के धट्टे
बहे ग्लानि श्रम सारा !

— संसार (कामना) ।

— प्रो० धर्मेन्द्र,
एम. ए. (त्रितय)

[युनिवर्सिटी-स्वर्णपदक-प्राप्त ; मृतपूवं
रिचर्स स्नातक, बिहार सरकार;
लेक्चरर, पटना कॉलेज]

प्रकाशक—
पुस्तकभंडार, लद्देरियासराय ।

भा. सं. ३४०१ b.

मुद्रक—
श्री. के. शास्त्री; ज्योतिष प्रकाश प्रेम,
विश्वेश्वरगंज, काशी ।



भूमिका



—राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह,

एम. ए.,

सूर्यपुरा (शाहाबाद)



हमारे भीतर जाने कितनी भावनाएँ—कितनी वासनाएँ हैं,
 कुछ ठिकाना है ! एक मिटती है, तो दूसरी उठती है—तरंग पर तरंग ।
 एक पल चैन नहीं । ओंख खुली और यह दौर चला । बलता रहा
 मरते दम तक !

मगर इन तमाम दिल की हिलोरी की भित्ति है हमारी छुदी ।
 यही मैं-पन तो हमारे निखिल मनोरंजनों का गोमुख है । इसी मैं-पन की
 वजह तो हमारा दापरा हो गया है इतना छोटा । वहाँ हम कितने में
 न रहते—आज रह रहे हैं बस इतने में !

हाँ, हमारे भीतर एक-आध प्रेरणाएँ ऐसी भी हैं, जो इस मैं-पन के
 दापरे से निकाल कर हमें असीम से जा मिलती हैं—वैसी ही एक
 प्रेरणा है करुणा । जब वह ज्वाल्सी उठती है, तो हम भूल जाते हैं

अपने को । हमारे भीतर पैठ जाता है कोई और, और वह हो जाता है मैं ।

हमारी अनुभूतियों की तरह से करुणा का उद्ग्रेक एक विप्लवी ध्यान है—जाने कहाँ टकर ले ! कोई इह है इसकी सम्भावनाओं की ? अगर रस की ओर मुका, तो गान बन गया—सत्य पर गया तो ज्ञान ।

व्याधे के तीर से हंस का जोड़ा फूट फूट होता है । इस दर्दनाक नज़ारे पर एक दर्दमन्द का दिल हिल जाता है । उसकी न्यथाओं को मध कर जो आह उठती है, वह उसी छन बन जाती है छन्द । यों करुणा के स्फुरण ने मानव-कंठ को भेंट दी ध्वनि की विभूति । जभी तो पंतजी ने भी कहा है—

वियोगी 'होगा पहला कवि,
आह से' निकला होगा गान !

पर, हम तो समझते हैं कि इस आह की तरह से गान ही नहीं—
ज्ञान भी फूटा होगा, इसी लिए—

दरदी होगा पहला श्रुति
दर्द से फूटा होगा ज्ञान !

आखिर दूसरों के दुख से दुखी होना क्या है, सबको अपनी तरह—
अपने अन्दर—देखना—“सर्वभूतस्य मामानं सर्वभूतानि चात्मनि ।” जो
तमाम प्राणियों को अपनी आत्मा के अन्दर देख पाता है, उसे फिर कुछ
और देखने को बाकी ही क्या रहा ? यही नहीं ज्ञान की गरिमा ! इसीके
भीतर न आ गई मानवता की भावना—अहिंसा की स्थापना ! वस, यों

करणा जब व्यापक हो गई, तो आत्म-विनाश की कुंजी हो गई। हमारी हतन्त्री पर जब विश्ववेदना का सुर उठता है, तो फिर हमारी तमाम सीमाएँ लगती हैं मिटने आप-से-आप—हमारी वेदना की तरंगें बन जाती हैं सुधा-बिन्दु खुद-बखुद।

“रंजर चले किसी पर तड़पते हैं ‘अमीर’
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है।”

जब तक यह दर्द भागवत की व्यंजना है, यह गान है। जब व्यापक प्रत्यक्ष अनुभव, तब ज्ञान।

वह जो किसी ने कहा है न, कि दुनिया की तमाम शायरी तो दर्द-दिल की मीक है, कोई धोधी दलील नहीं—

“Our deepest songs are those
That tell of saddest thought.”

काव्य की तो रसवाहिनी नस है करणा—“एको रसः करण एव।”
गुसजी हिन्दी के युगप्रयत्नक महाकवि हैं। उनकी लेखनी से निकली है करणा की तीव्र धारा, जिधर गई, प्लावित करती गई।

एक ओर उर्मिला, उत्तरा और यमोधरा की मर्मभेदी अनुभूतियों पर गुसजी का हृदय हिलोरें होता है, तो दूसरी ओर नहुप के पतन, पाण्डवों की विपन्न परिस्थिति, गुरुगोविन्द और वैरागी चन्दा के सन्ताप, सबाई जयसिंह की माना की आँखों से क्षरते आँसू और दरिद्रता तथा अत्याचार के योद्धा के नीचे पिसते हुए भारतीय किसानों की चीत्कार-ध्वनि ने उन्हें पृथ्वी से खोटी तक घरा दिया है।

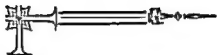
[ई]

प्रह्लादचारीजी ने गुप्तजी की पावन कारण्य-धारा में डूब कर एक-से-एक
आयदार मोती निकाले हैं । दंग के साथ मौज कर पिरोये भी हैं । सफाई
देरपते ही बनती है । भारती के सिंगार की चीजें होंगी ये !

दीपमालिका, {
१९४१ }

—राधिकारमण प्रसाद सिंह ।





अनुभूमिका



—श्रीमती जर्मिला शास्त्री,
मेरठ।



हमारी प्राचीन परम्परा के अनुसार 'कारण्य' काव्य का मूल है, जय पात्मीकि ने क्रीष्ट-युगल में से एक को व्याध द्वारा मारे जाते हुए देखा, और उनका हृदय करुणा-रस से आप्लावित हुआ, उसी क्षण उनके हृदय में काव्य-धारा फूट पड़ी और इस प्रकार आदि-काव्य का प्रारम्भ हुआ। इसलिये गुप्तजी के काव्यों में कारण्य-धारा की रोज काव्य की सर्वोत्कृष्ट कसीटी की रोज है। अतः पृतद्विषयक प्रस्तुत मननात्मक रचना—अर्थात् "गुप्तजी के काव्य की कारण्यधारा" के लिये हिन्दी साहित्य के प्रेमियों और अध्येतओं को श्री प्रोफेसर धर्मेन्द्र प्रसादचारी, एम. ए. का अनुगृहीत होना चाहिये।

मुझे अपने माल्य-काण्ड में गुप्तजी की रचनाओं को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और उनके द्वारा जीवन-स्कृति मिली थी। गुप्तजी हमारे

आधुनिक काल के राष्ट्रीय कवि हैं। इसलिये इस जुड़ावे में उनकी जेल-यात्रा को देख कर तो आज भी प्राचीन भारत की यह झलक हमारी आँखों के सामने आ जाती है, जब कविगण सेना के साथ युद्धभूमि में जाते थे, और योद्धाओं के अन्दर धीर-रस को प्रोत्साहित करते थे।

श्री प्रोफेसर धर्मेन्द्र मदनचारीजी संस्कृत और हिन्दी साहित्य के उत्कृष्ट विद्वान तथा धीरस्थ और पाश्चात्य दर्शन के पंडित हैं। हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में उनका पदार्पण हिन्दी के लिये सीमाव्य की बात है। उनका यह ग्रन्थ हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य में आदरणीय स्थान प्राप्त करेगा, इसमें संदेह नहीं।

पटना हॉलर बाई (
 पी. डब्ल्यू. मेडिकल कॉलेज
 (हस्पताल)
 २५-१०-४१

}

उर्मिला शास्त्री ।

विषयः—

पृष्ठ

१. गुप्तजी का व्यक्तित्व ... १
२. खड़ी बोली के विकास में ✓
गुप्तजी का स्थान ... ११
३. गुप्तजी की कला में उप-
योगितावाद... ३१
४. गुप्तजी की काव्यकला ✓ ४३
५. गुप्तजी राष्ट्रीय कवि अथवा
जातीय (?) ... ८३
६. गुप्तजी का समन्वय-वाद ९७
७. गुप्तजी का प्रकृति-पर्यवेक्षण ✓ १०३
८. करुण और कारुण्य ... १०६
९. पटाक्षेप ... ११७

पृष्ठ-भूमिका

—प्रो० घर्मेन्द्र,

पटना कालिज,

पटना ।

गुप्तजी का व्यक्ति

* १

गुप्तजी के हृदय-क्षेत्र पर कवि-प्रतिभा का अंकुर आपके पिताजी की कृपा से ही उगा और उन्हीं के आशीर्वाद से वह पल्लवित होकर एक विशाल वृक्ष हुआ है। आपके पिताजी एक भगवत्प्रेमी पुरुष थे और उनका अधिकांश समय भगवद्भजन में ही व्यतीत होता था। वे कवि भी थे और भगवद्-विषयों पर ही कविता लिखा करते थे। बा० मैथिलीशरण गुप्त को उनके पिता ने उनके बचपन में ही लिखे एक छन्द को पढ़कर यह आशीर्वाचन कहे थे—“तू आगे चलकर हमसे हजार गुनी अच्छी कविता करेगा।” पिताजी का यह आशीर्वाद अक्षरशः सत्य हुआ।

गुप्तजी के पिता का नाम सेठ रामचरण था। आप चिरगौंव (साँसी) के एक धनी-मानी वैश्य थे और सीताराम के परम भक्त थे। कहते हैं—गुप्तजी पर आपका विशेष खेद था—कवित्व-प्रतिभा और रामभक्ति ये दोनों आपको पिताजी की दैन हैं।

* यह जीवनवृत्त ‘साधना’ के परिचर्चांक (मार्च-अप्रैल १९४१) के श्री ‘रसिकेन्दु’ के लेख का उद्धरण है। कुछ अंश छोड़ दिये गए हैं।

गुप्तजी महोदय वैश्य हैं। आप पाँच भाई हैं, श्री महारामदासजी तथा श्री रामविशोर गुप्त ही बचे हैं और श्री सियारामचरण तथा घाटसीलाशरण छोटे हैं। इस प्रकार गुप्तजी अपने भाइयों में मँझले हैं। आपका जन्म सं० १९४३ वि० भाषण शु० २ चन्द्रवार को रात्रि के समय ९ बजे के करीब हुआ था।

गुप्तजी की तीन बहिनयाँ हुई हैं। पहली शादी आपकी ९ वर्ष की अवस्था में हुई। पर इस पत्नी का सं० १९६० में देहान्त हो जाने पर सं० १९६१ में आपकी दूसरी शादी हुई। सात आठ वर्ष के बाद इस पत्नी का भी देहान्त हो गया। परवालों के आग्रह से सं० १९७१ में आपने अपनी तीसरी शादी भी हो जाने दी। आपके, इन पत्नियों में कई बच्चे उत्पन्न हुए, सब छोटी उम्र में ही जाते रहे। एक लहरा, जिसका नाम सुदर्शन था, कुछ समयाना हो गया था, यह भी जलोदर रोग से चल बसा। इस प्रकार गुप्तजी का जीवन सन्तान की ओर से बहुत दुखी रहा है।

गुप्तजी की प्रारम्भिक शिक्षा चिरगौन में ही हुई। वर्जा दो पस करने के उपरान्त भँगेरजी पढ़ाने के लिये मेकडानल हाईस्कूल हाँसी में दाखिल करा दिया गया। यहाँ आप दो साल तक रहे और पढ़ने-लिखने का अपेक्षा रोजे नूढ़े अधिक। अतः आपकी घर मुला लिया गया। घर पर ही एक पण्डितजी से संस्कृत पढ़ने लगे। आप पढ़ने-लिखने में बड़े तेज थे, पाठ की घट बाद कर चलते थे। परन्तु खिल्लाही भी आप परले घिरे के थे। पण्डितजी के सामने जो पढ़ लिया सो पढ़ लिया, नहीं तो पारस समय रोल मूद में ही बीतता था। बड़े आदमी के लड़के थे, बर्कद फिरते तथा पतंग उड़ाते थे। इनके अतिरिक्त आपकी एक शौक और था, और वह था—

जोर-जोर से आल्हा पढ़ना । आपको कोई आल्हा की पुस्तक मिली कि आपने उसे जोर-जोर से पढ़ना आरम्भ किया । श्रोताओं में से किसी ने वाह ! वाह ! कह दिया, तो फिर आप और जोर-जोर से पढ़ने लगे । यह देखकर आपके बड़े माई की चिन्ता हुई कि यह कहीं बिगड़ न जाय । इसी विचार से उन्होंने इन्हें मुंशी अजमेरीजी की संगति में डाल दिया । मुंशी अजमेरीजी से सभी परिचित हैं, वे हिन्दी के अच्छे कवि थे । मुसलमान होते हुए भी गुप्तजी के पिता अजमेरीजी को पुत्रवत् मानते थे और कहा करते थे कि आप मेरे छोटे पुत्र हैं । मुंशी अजमेरीजी की संगति से गुप्तजी का सुधार हो गया । वे इन्हें कहानियाँ सुनाते और कविताएँ कण्ठस्थ कराते । मुंशीजी की कृपा से गुप्तजी का कवित्व-प्रतिभांशुर कुम्हलाने न पाया और आचार्य द्विवेदीजी के कृपा-सिंचन से तो वह पल्लवित हो उठा ।

गुप्तजी की पद्यरचना का शौक १५-१६ वर्ष की अवस्था में, उस समय से लगा, जिस समय आपने घर पर संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया । दोढ़े छप्पय में विभिन्न विषयों पर कविताएँ बनाते और उन्हें कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले 'वैद्योपकारक' नामक पत्र में छपाते । उन दिनों आचार्य द्विवेदीजी साँची में रेलवे के दफ्तर में मौकर थे । गुप्तजी अपने बड़े माई के साथ द्विवेदीजी से मिलने साँची आये । आपके बड़े भाई ने यह कहकर—
 "ये मेरे छोटे भाई भी कविता करते हैं" द्विवेदीजी से आपका परिचय कराया । उस समय की मुलाकात सिर्फ इतनी ही रही । पश्चात् आपने 'हेमन्त' शीर्षक कविता द्विवेदीजी के पास 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी । उस महीने की 'सरस्वती' में आपकी कविता न छपी । हताश आपने उसे कच्चीज से प्रकाशित होनेवाली 'मोहिनी' नामक पत्रिका में छपा डाला । कुछ समय

पश्चात् आपकी यही रचना 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। द्विवेदीजी ने जो काट उट्ट तथा संशोधन आपकी इस रचना में किये, उन्हें देखकर आप दंग रह गये। उन्होंने दिनों द्विवेदीजी का आपको पत्र भी मिला, जिसमें लिखा था—“हमने जो संशोधन किये हैं उन पर विचार करो, आगे से जिस कविता को हम न छापें, उसे किसी दूसरे पत्र में न छपाओ।” द्विवेदीजी की इतनी ही सीख काम कर गई। अब जो कुछ लिखते 'सरस्वती' में हो छपाते। इस प्रकार द्विवेदीजी और आपमें गुरु-शिष्य का-सा सम्बन्ध स्थापित हो गया।

गुप्तजी की पहली पुस्तक जो प्रकाश ॥ आई, वह 'रंग में भंग' है, जो करीब सं० १९०८ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का कथानक द्विवेदीजी के लिखे 'कल्पित दुर्ग' शीर्षक लेख से लिया गया था। यह खड़ी बोली की कविता की अपने ढंग की अनोखी पुस्तक थी। इसके पश्चात् जो आपकी पुस्तक प्रकाशित हुई, वह 'जयद्रथ वध' है। यह सन् १९१० में प्रकाशित हुई। 'जयद्रथ वध' से आपकी कविता प्रतिभा चमक उठी और आपकी ख्याति दिन दूनी रात चौथानी फैलने लगी। आपकी कविता प्रतिभा पर मुग्ध होकर कुरी सुदौली के अधिपति राजा रामपालसिंह ने भौलाना हाली के मुसरस के ढंग पर एक रचना हिन्दुओं के लिए लिखने के लिए आपसे अनुरोध किया। इसी अनुरोध के फलस्वरूप आपने 'भारत भारती' लिखी, जो सं० १९६९ में प्रकाशित हुई। 'भारत-भारती' से आपकी ख्याति देश के कोने-कोने में फैल गई।

इसके उपरान्त गुप्तजी ने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं। आपकी लिखी हुई सबसे आखिरी पुस्तक 'नहुष' है जो पिछले साल प्रकाशित हुई है। यह आपकी ३३ वीं रचना है। 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' पौराणिक उपख्यानों

पर लिखे हुए नाटक हैं और शेष रचनाएँ पद्यमय हैं । 'विरहिणी व्रजांगना' आदि पुस्तकों को, जिन्हें बँगला पुस्तकों का पद्यमय अनुवाद कह सकते हैं, आपने 'मधुप' नाम से प्रकाशित कराया है । 'साक्षेत्' आपका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ-रत्न है और महाकाव्य है । इसका लिखना तो आपने आज से करीब ३० साल पूर्व [] 'उर्मिला' नामक खण्डकाव्य से कर दिया था, परन्तु पीछे से आपने इसको रामचर्चा में परिणत कर दिया और 'साक्षेत्' नाम से प्रकाशित कराया । हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास के रामचरित-मानस के बाद रामगाथा के भक्ति-पूर्ण काव्यों में इसका दूसरा नम्बर है ।

एक भगवद्भक्त होने के साथ ही साथ गुप्तजी देशभक्त भी हैं । आपकी देशभक्ति की शलक आपकी प्रायः सभी कृतियों में मिलती है । भगवद्भक्ति और देशभक्ति के संयोग से ही आप एक सफल और सर्वप्रिय कवि हो गये । 'भारत-भारती' तो आपका एक राष्ट्रीय काव्य है ही, इसके साथ ही अन्य दूसरे काव्यों में भी आपने अपने देश का राग गाया है ।

सन् १९३६ में महात्मा गान्धी द्वारा आपको काशी में काव्य भान ग्रन्थ भेंट किया गया था । उस अवसर पर आपने जो वक्तृता दी थी, उसमें आपने अपने देश-प्रेम का प्रकाश निम्नांकित शब्दों में दिया थाः—

"नवीन भाषा के साथ ही पद्य-रचना के लिए भारतवर्ष ऐसा महान् विषय भी मुझे आरम्भ से ही प्राप्त हो गया था, वह भी एक संयोग से । व्यापार में लम्बा घाटा होने पर घर की बहुत सी चल और अचल सम्पत्ति भी चल दी थी । मेरे बाल हृदय ने जो घर देखा वही बाहर भी था । मेरे घर के वैभव को व्यापार ले बैठा था और बाहर सब कुछ विदेशी व्यापारी लिये बैठे थे । मैं अपना रोना रोकर देश के लिये रोनेवाला बन बैठा ।"

शुभजी काव्य-रचना करते समय स्लेट पेंसिल लेकर बैठते हैं और कुछ गुनगुनाते जाते हैं। जब स्लेट भर जाती है तो उसे क्षण पर उतार देते हैं। कविता पूरी हो जाने पर पहले अपने स्वयं को सुनाते हैं। मुंशी अजमेरीजी जब जीवित थे, तो आप पहले अपनी नयी रची हुई कविताओं को उन्हें सुनाते थे और बादविवाद करके कुछ संशोधन भी कर लेते थे। इसके पश्चात् साफ लिखने का काम भी मुंशीजी ही करते थे। मुंशीजी के बाद अब आपके इन कामों को आपके अनुज सियासामशरण और चाइशीलामशरण करते हैं। श्रीसियासामशरणजी से हमारे पाठक परिचित होंगे। आप भी बड़े अच्छे कवि और कहानी लेखक हैं। शुभजी कविता लिखते समय ऐसे तालीन हो जाते हैं कि कैसा भी शोरगुल क्यों न हो, आपके अपने काम में बाधा नहीं मालूम होती। जिन दिनों आप कुछ लिखते होते हैं तो दिन रात यही काम रहता है और जिन दिनों कुछ नहीं लिखते होते तो महीनों और सालों भी ही निकल जाते हैं। कादा कांलेस्कर के एक बार पूछने पर आपने बतलाया था—

“कविता भी एक मादक चीज है। शुरू शुरू मैं विनोद का कौतूहल की दृष्टि से कविता करने लग्य। लेकिन उसने मुझे अपने अधीन कर लिया। हमारे पिताजी कुलदेवता की रक्ष करके कविता किया करते थे। मुझे भी उसके अनुसार श्रुति या गुणगान करने की इच्छा उत्पन्न हुई। बड़ी इच्छा प्रेरणा बनी और उसकी परिणति आत्मनिवेदन से आत्म-समर्पण में हो गई।”

शुभजी की प्रथम रचना ‘रंग में रंग’ तो जहर इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुई, किन्तु दोष सारी रचनाओं का प्रकाशन साहित्य सदन, चिरगाँव (मँसी) और से हुआ है। इस प्रकार अपनी सारी रचनाओं के प्रका-

शक एक तरह से आया ही है यद्यपि प्रश्रयान-सम्बन्धी सारा काम-नाम आपके बड़े भाई श्रीमद्विजयेश्वर गुप्त के हाथ में रहता है। गुप्तजी को अपनी रचनाओं से काफी आनंद हुआ है। आप सभी पुस्तकों के अनेक संस्करण निकाल चुके हैं। अनेक 'अवध-वध' के बँस और 'भारत-भारती' के तेरह संस्करण निकाल चुके हैं। दिनोंदिन अपनी पुस्तक की बढ़ती माँग को देख-कर आपने सन् १९२० में अपने गाँव में छापाखाना खोल दिया, जो साहित्य क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। कहना न होगा कि अपनी लेखनी द्वारा गुप्तजी ने जितना पैसा कमाया है उसका आभार के किसी दूसरे को नही कमाया।

गुप्तजी हिन्दी के ही आचार्य हैं ही इसके अतिरिक्त आप संस्कृत और संस्कृत के भी एकाग्र हैं। अंग्रेजी का आपकी भाषा नहीं है। कोटोप्राची भी आप जानते हैं।

आपकी योजना बहुत साधारण है। मोती, सुरता और पयसी--और यह भी सब शायद ही होती है। आप व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं में श्रावः स्वदेशी वस्तु ही व्यवहार में लाते हैं। आप स्वभाव से बहुत ही सीधे-सादे और निमग्न हैं। छल-कपट तो आपको दूर तक नहीं गया है। जब आप किसी से बातें करते हैं तो ऐसे भोलेपन से, जहाँ आप कुछ जानते ही नहीं। देखने में आप देहती विद्वान्-से भावपूर्ण लगते हैं। आपको शहरी जीवन पसन्द नहीं है। आइन्मा से आप कोती दूर हैं, दुःखमय आपको पसन्द नहीं। टास्मि और दुकानों से श्रावः नहीं मिलते। हमारे एक मित्र ने, जो श्रावः में कुछ दिनों श्रमिक में रहे, हमें बताया कि एक बार एक अफसर दोरे में विरहण पहुँचे और उन्होंने कहा कि गुप्तजी हमसे मिलने आते,

परन्तु गुप्तजी न गये और आखिरकार उन अफसर महोदय को ही आपा मिलने के लिये आपके मकान पर आना पड़ा ।

पर पर गुप्तजी फर्श पर गद्दी बिठाकर बैठते हैं और आपके हथर-उप पुस्तकें पढ़ी रहती हैं ।

शिन दिनों आठ किसी काव्य-रचना में निमग्न नहीं रहते हैं, उन दिन आपका अधिक समय सूत कातने में व्यतीत होता है ।

ऐसे भगवद्भक्त एवं देवामक्त कवि को पाकर हिन्दी का मस्तक ऊँच हुआ है और हम हिन्दी-भाषी जितना भी उन पर दर्श करें, बौधा है ।

गुप्तजी को जन्म देकर वह चिरगोब, जो नाम के लिए ही चिरगोब रहा, अब वास्तव में चिरगोब हो गया । जब तक हिन्दी भाषा का अस्तित्व है तब तक गुप्तजी के साथ-साथ उसका भी नाम अमर रहेगा ।

गत १७ अप्रैल से हमारा कवि जेल के सीढ़ियों में नजरबन्द है ।

खड़ी बोली के विकास में
गुप्तजी का
स्थान

कुछ लोगों का भ्रम है कि खड़ी हिन्दी का विकास वजभाषा के पश्चात् हुआ और खड़ी हिन्दी वजभाषा का उत्तरवर्ती रूप है। किन्तु यह धारणा नितान्त निर्मूल है क्योंकि खड़ी बोली आरंभ से ही वजभाषा की समकक्ष 'पछोह' की बोली रही है^१। यदि हिंदी के औपभ्रंशकालीन स्टेज का सिद्धान्त-बलोकन किंवा ज्ञाय तो उसमें भी मिश्रित और घुमिल खड़ी बोली के प्रमाण मिलेंगे। इस स्टेज का आरंभ विक्रम की छठी-सातवीं शती से होता है क्योंकि वसी समय से हमें वज्यानी बौद्ध सिद्धों के अपभ्रंश के 'दुहरे' उपलब्ध होते हैं। इन 'दुहों' में कुछ ऐसे सदृश किये जा सकते हैं कि जिनमें खड़ी बोली की हल्की रूप रेखा झलकती है। उदाहरणतः—

ऊँचा ऊँचा पर्वत सँहि बसइ सबरी बाली ।

भोरनि पोच्छ पराहन सबरी जिवत गुजरी माली ॥

— शबर पाद ।^२

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४२५ ।

२. देखिये—खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—

अरभ्रंश हिंदी के लेखकों में जैन साधवों का स्थान साहित्यिक दृष्टि से बौद्ध विद्वानों से भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने कतिपय बड़े २ ग्रंथ लोकभाषा में लिखे जिनमें हमें खड़ी बोली का अद्भुत रूप भी प्रतिफलित मिलता है। उदाहरणतः हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ में जो अपने तथा अपने पूर्ववर्ती कवियों के उदाहरण उद्धृत किये हैं उनमें कुछ पद्य ऐसे हैं जिनकी भाषा में खड़ी बोली का पूर्ण रूप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

अरभ्रंश भाषा का साहित्य-सूत्रन केवल बौद्धों और जैनो का ही एकवि-पत्य न था, क्योंकि जहाँ एक ओर कालिदास (५वीं-६ठी शता) के 'दिक्कमेर्वशीय' में अरभ्रंश के श्लोक मिलते हैं, वहाँ दूसरे ओर पर स्थित विशाखा (१५ वीं शता) की 'कीर्तिछा' अरभ्रंश की कीर्तिछा सोचती प्रगट होती है। इसके अतिरिक्त हर्ष, भामह, रघु, रामचंद्र आदि काव्य-शास्त्रियों की रचनाओं एवं चिन्तनेषु से यह प्रभावित हो कुछ है। ईसा की नवीं शताब्दी तक अरभ्रंश भाषा न केवल 'लोकभाषा' का रूप ग्रहण कर चुकी थी अनेक "सौराष्ट्र (सूरत) से मगध तक फैल चुकी थी।" अतः उसमें भी ऐसे प्रयोगों का मिलना स्वाभाविक ही है जिन्हें हम वर्तमान खड़ी बोली के अग्रदूत मान सकते हैं। निम्नलिखित पद्य स्पष्ट-पुलाक्याद से उद्धृत किये जाते हैं :—

बहइ भलअ यात्रा हंत कंषत काबा ।

हणइ सवन रंधा कोइलालन वंधा ॥

१. अरभ्रंश-ग्रन्थ का दर्शन—पृ० १० ।

२. हिन्दी साहित्य की मूलिका-हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० २६ ।

सुनिभ दह दिहसुं भिय प्रंकार भारा ।

हनिअ, हणइ हजे चंड चंडाल मारा ॥^१

—*—

संग-भणहिं तु बणिअइ देवसु अमहारा कंगु ।^२

—*—

सइ पुण्डह पर मइइं सो यइ पर ओइ ।^३

—*—

कालो कुमारो स छसुंअपारी अण्णो होवा हवं पूक पाठि ।

भई भित्त खादि किम भिपारी यई भविचो किछ कइ हमारो ॥^४

विक्रम की १४ वीं सदी तक के मध्यप्रंख की चर्चा समाप्त करने के पहले चार्जपर (१३५७) का मामोलेस करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि वसने कुछ ऐसे वाक्य भी उद्धृत किये तथा रखे हैं “जिनमें राणी शोली के हुकमे भी मिले हुए हैं,” यथा—

(i) भो गुरु के पाय सरणम् ।

(ii) सूर्य पादल छाह येइ पसरी निःश्रावसाब्दः सता

रात्रुं बाबिलुयलि लोहि हबिसीं पुरं भर्णत्पुत्रम् ।

शूटे गयं मया मयाकि सदस्य रे फंत मेरे कहे

वंडे फाय निवेशवाहि सारण श्रीमलदेवं प्रभुम् ॥

(धीरेंद्र रचित) ।

१. अमराज दर्शन—पृ० ३३ ।

२. " " " ४५ ।

३. " " " ४६ ।

४. " " " १३३ ।

५. राणी शोली दि. स्त. का इतिहास—मजलसम् पृ० ६३ ।

(iii) कोट्टमत्तमतंगमः कमभित्तादेन नंदात्मज !

शब्दः कुत्र हि जायते युवतयः कस्मिन् सति भ्याकुलाः ।

विक्रेतुं दधि गोशुलात् प्रचलिता कृद्ग्रेन मार्गे घृता

गोपी काचन तं किमाह करणं दानी अतोत्प्रे भए ॥

अपभ्रंश मिथित धूमिल पुद्गेसे से खींचकर हिन्दी को खानिब खाँ बोलो के घराखंड पर स्पष्टतः खड़ी करने का प्रयत्न धेव रुसरो को है। रुसरो का जन्म सं. १११२ दि० में हुआ था और मृत्यु सं. ११८१ में। वह न केवल सर्वांगीण कवि था, अपितु सार्वजनीन भी। वह फारस, तुर्की, अरबी, संस्कृत एवं हिन्दी सभी भाषाओं में दखल रखता था। हिन्दी में भी उसने प्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों को अपनाया है;—प्रजभाषा को सामान्य काव्य भाषा के रूप में, और खड़ी बोली को पद्यंतियों और मुररियों के माध्यम के रूप में। मनोरंजन के साधन के लिये खड़ी बोली का प्रयोग वह संकेतित करता है कि सामान्य जनता में सामान्य बोझ-चाल के लिये खड़ी बोली विशेष रूप से प्रथित और प्रचलित थी। एक दो उदाहरण अनपेक्ष्य न होंगे—

(i) भदि कटे सो सत्रको पाले ।

मध्य कटे सो सत्रको घाले ॥

भंत कटे सो सत्रको मीठा ।

रुसरु वाको आँखों दीठा ॥

उत्तर—'धमज

(ii) रोटी जली क्यों ? घोड़ा जड़ा क्यों ? पान सड़ा क्यों ?

उत्तर—'फेर न था'

(iii) किसे पढ़ी है जो जा सुनावे,

पियारे पी को हमारी बत्तियाँ ।

—आदि ।

क्रमशः हिन्दी साहित्य की उत्तरोत्तर श्रीशक्ति के साथ इसके पुनीत प्रांगण में भक्ति-भारती की चार प्रमुख धाराएँ प्रवाहित हुईं :—

१. कबीर आदि निर्गुणमार्गी संतों की ज्ञानप्रधान भक्तिधारा ;
२. जायसी आदि सूफी संतों की प्रेमप्रधान भक्तिधारा ;
३. तुलसी आदि सगुणमार्गी संतों की रामावत भक्तिधारा ;
४. सूर आदि सगुणमार्गी संतों की कृष्णावत भक्तिधारा ।

इन सभी धाराओं में जिस विविध साहित्य की सृष्टि हुई, यदि उसकी सूक्ष्म छान बीन की जाय, तो पता चलेगा कि सर्वत्र खोश या बहुत खड़ी बोली ॥ पुट मिलता है । कबीर आदि निर्गुनिया संतों की 'खड्ग बोली' भाषा तो खास तौर से खड़ी बोली के ही खड़ाऊँ पर खड़ी है, उसीके पृष्ठधार पर प्रकटित एवं फुल्लित है । उदाहरणतः—

कबीर से—

पाइन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पदार !

घर की चाक्री कोई न पूजे, पीसि राख संभार !!

अथवा—

ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद, ना कावा कैलाश में ।

मुझको क्यों ॥ हँदैं बन्दे, ॥ तो तेरे पाम ॥

१. अन्य निर्गुनिया संतों के उद्धरणों के लिये देखिये 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास'—ब्रजलक्ष्मण—पृ० ७५-८६ ।

यद्यपि जायसी, भंडन आदि प्रेममार्गी सूफी कवियों की भाषा मुख्यतः अवधी है, तथापि खड़ी बोली के वाक्यांश उनकी रचनाओं में भी प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। यथा:—

(१) जायसी (पं. १५१६) से :—

हिन्दू संतति खपराजा भौतिहि भौति कुलीन ।

हिन्दू तुरक दुखी भए अपने अपने दीन ॥

(॥) उल्लमान (१६७०) की 'बिनावली' से :—

तब लगि सहिये बिरहदुख जब लगि जान सो बार ।

दुख्य गए तब सुख है जानै सब संपार ॥

सगुणमार्गी तुलसी और सूर की अवधी और व्रजभाषा की छानवीन की भाषा तो उनमें भी खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रगट है। यथा:—

तुलसी से:—

(१) जो प्रसु मैं पूछा नहि होई ।

सोउ दयाल राखहु अनि जोई ॥

—रामायण (बालकांड) ।

(॥) चला तुरंत मझा भूमिमानी ।

नल की शप आइ नियरानी ॥

—रामायण (बालकांड) ।

(॥) सुत्पति पुनि शिव-जटा समानी ।

एक वर्ष वह रही मुलानी ॥

—रामायण (बालकांड) ।

सूर से:—

(i) भूलि रहे तुम कहाँ कन्हाई ।^१

(ii) कहि राधा हरि कैसे हैं ।^२

(iii) सुनिये ब्रज की दशा गोसाईं ।^३

रहीम, मीरा, गंग आदि अन्य प्रसिद्ध भक्त कवियों ने भी खड़ी बोली का मिश्रित या अमिश्रित प्रयोग किया है। यथा:—

मीरा से—

(i) मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।

रहीम से—

(ii) दृष्टा चत्र विचित्रितां तल्लतां मैं था गया पाग में ।

काचित्तत्र कुरंगशावनयन गुल तोड़ती थी खड़ी ॥

बम्बदभूषनुपा कटाक्षविशिलैः घायल किया था मुझे ।

तस्सीदामि सदैव मोह-अलघौ हे दिल गुजारा शुकर ॥

गंग से—

(iii) बैल कूं नाथ घोड़े कूं लगाम मतंग को अंकुस से कसिए ।

गंग कहे सुन साह अकबर क्रूर सो दूर सदा बसिए ॥

गंग और जटमूल के नाम एक दूसरी दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि

१. प्रो० बेनोप्रसाद का सवित्र सूर सागर पृष्ठ १६६ ।

२. " " " पृष्ठ २०५ ।

३. " " " पृष्ठ ४६३ ।

४. अन्य मुसलमान खड़ी बोली हिन्दी के कवियों की चर्चा के लिये देखिये मजरल्लदान-खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, पंचम तथा षष्ठ प्रकरण ।

प्रथम की 'चंद छंद की कथा' में हमें खड़ी बोली गद्य के भी नमूने मिलते हैं 'आम खास भरने लगा है', 'सरस्वती कूं नमस्कार करता हूँ' आदि इसके साथ नवयुग खड़ी हिन्दी गद्य के अमूल्य समझे जाने चाहियें।

भक्त कवियों के परवर्ती रीति रसिक कवियों की कविता मुख्यतः सुर साहित्य से प्रभावित हुई, अतः स्वभावतः, उसने अपने आपको व्रजभाषा के वेशभूषा में व्यक्त किया। किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इस व्रजभाषा का शुद्ध और टकसाली रूप रीति प्रण्यों में नहीं पाया जाता क्योंकि अथ तक वह साहित्यिक रूप ग्रहण कर चुकी थी, और वह भाषा विज्ञान का सिद्धान्त है कि चाहे कोई भी भाषा हो वह अपने साहित्यिक रूप

१ गोरखनाथ के नाम से भी कुटुम्ब गद्य प्रथम मिलने है, और यदि उन्हें प्रामाणिक माना जाय तो उन्हें ही प्रथम गद्य के नमूने मानना पड़ेगा, किन्तु उनसे प्रामाणिकता में संदेह है। वे संभवतः १४०० वि० के आस पास रचे गए थे इनमें तथा इनके बाद की जो प्रवचन पा गद्य की रचनाएँ मिलनी हैं, यथा —

(१) विठ्ठलनाथ वा शृंगारमठन ।

(११) चौतानी वैष्णवन की बार्ता ।

(१११) दो सौ वाचन वैष्णवन की बार्ता ।

(१११) नामाश्रय वा अष्टवाम (म० १६६०) ।

(१) वैकुण्ठमणि गुन वा अष्टवाममाहात्म्य और वैतात्ममाहात्म्य ।

(११) नामिवेनोपाख्यान (लेखक अज्ञान) ।

(१११) सूरनिमिष की वैतात्म पचीसी (१७६७ वि०) ।

(११११) हीरालाल की अष्टवाम अष्टवाम की भाषा बचनिका (१८५८ वि०) ।

—उन्हीं की खड़ी बोली के प्रियापदों के व्यवहृत हुए हैं, किन्तु यत्र तत्र, सर्वत्र नहीं।

(उदाहरणों के लिये देखिये रामचन्द्र गुप्त-हि० स० ११११ पृ० ४७२-८३) ।

में बहुत कुछ कृत्रिम सौन्दर्य का घूँघटा डाल ही लेती है एवं विविध प्रभावों से प्रभावित होती चलती है। 'दास' ने अपने 'काव्य निर्णय' में काव्य भाषा को एक खिचड़ी भाषा माना है जिस में—

ग्रन्थ मागधी मिलै अमर नाग यवन भार्यानि ।

सहज पारसी हूँ मिलै पट विधि कहत बर्यानि ॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बताया है कि काव्यगत व्रजभाषा व्रज-भाषा मात्र नहीं है, व्रजमंडल के अतिरिक्त अन्यत्र बोली जानेवाली भाषाएँ भी इसमें आ मिलती हैं। अतः भिन्न भिन्न कवियों की कविताएँ पढ़ने से ही व्रजभाषा के सामूहिक रूप का पता लग सकता है—

व्रजभाषा हेतु व्रजवास हीन अनुमानै ।

ऐसे कविन की चानी हूँ सो जानिए ॥

सारांश यह कि रीतिग्रन्थों की व्रजभाषा एक मिश्रित भाषा है जिस पर अंशतः खड़ी बोली का भी प्रभाव पड़ा है। बिहारी, भूपण, मतिराम, पद्माकर, ग्वाल--प्रायः सबों की भाषा में खड़ी बोली की-सी वाक्ययोजनाएँ मिलेंगी। एकत्र उदाहरण पर्याप्त होंगे—

बिहारी सेः—

जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु योति बहार ।

भर अलि रही गुलान में अवन कटीली डार ॥

देव सेः—

✓ संपति में काँय काँय विपति में माँय माँय ।

काँय काँय माँय माँय देखो सर दुनियाँ ॥

भूषण से.—

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहन बारी ।
 ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं ॥
 कंद मूल भोग करें कंद मूल भोग करें ।
 तीन घेर खाती ते वै तीन घेर खाती हैं ॥

मतिराम से:—

मेरी मति मे राम है कयि मेरे मतिराम ।
 चित मेरो आराम में चित मेरे आराम ॥

यद्यपि इन उदाहरणों में खड़ी बोली की टुकड़ियाँ मिलती हैं तथापि उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वे सामूहिक रूप से मजभाषा के दामन में दबकी हुई हैं ।

कालक्रम से खड़ी बोली गद्य का भी विकास होने लगा । गद्य साहित्य बला सी आता था बहुत दिनों से; और इन्के दुष्के लेखक भी रंग मंच पर प्रगट हो जाते थे,—यथा रामप्रसाद निरंजनी (स० १७८९), दीबतराम (स० १८१८) आदि—जिन की भाषा में खड़ी बोली अपने मिश्रित या अमिश्रित रूप में स्पष्टतया लक्षित होती है;—तथापि तत्त्वतः खड़ी बोली गद्य की गाढ़ी की नवयुग की 'जगरिया' पर जगराने का प्रमुख ध्येय हासिल है विक्रम की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में उदित होने वाले उस आचार्य-चतुष्टय की, जिसकी नामावली नवयुग खड़ी बोली साहित्य के मुखपृष्ठ पर स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी —

१. इनके मद्रित परिचय के लिये देखिये रामचन्द्र शुक्ल-दि० सा० का इतिहास पृ० ४८७-८८ और जनकप्रसाद-खड़ी बोली दि० सा० का इतिहास पृ० २७३-७४ ।

आचार्य	—	प्रमुख रचना
१. लालू लाल	—	प्रेमसागर
२. सदल मिथ	—	नासिद्धेत्तोपारयान
३. सदासुख खाल	—	सुखसागर
४. ईशा आशा खौ	—	रानी केतकी की कहानी ।

खड़ी बोली गद्य के लिये मैदान भी खाली मिला, क्योंकि कि अद्य तक मजभाषा का गद्य-साहित्य विकसित नहीं हो पाया था । अतः भगवान का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिये कि यह भाषा-विशेष नहीं संचटित हुआ, और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी मजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी ।^१

इस प्रसंग में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जिन चरणों से खड़ी हिन्दी गद्य और बोल चाल को प्रोत्साहन मिले उनका संक्षिप्त उल्लेख किया जाय । वे ये हैं:—

१. मोगल साम्राज्य का पतन ।
२. ब्रिटिश साम्राज्य का उत्थान ।
- (क) कचहरी की भाषा की समस्या ।
- (ख) स्कूलों की भाषा की समस्या ।
३. ईसाइयत का प्रचार ।
४. छापाखाने का प्रवेश ।
५. सं० १९१४ का राजनीतिक विद्रोह ।

१. रामचन्द्र शुक्ल—हि० सा० का इतिहास (नूतन संस्करण) पृ० ४८२ ।

(१) यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से मोगल राज्य का सूर्यास्तकाल महान विद्रोह और संपर्प की रक्षिया से शक्ति है, क्योंकि उस समय सारे भारत में एक त्रिकोण युद्ध (Triangular Fight) चल रहा था, जिस में हिन्दू (विरोधतः जाट और मराठे), मुसलमान (मोगलसाम्राज्य के टिमटिमाते हुए अस्तोन्मुख सितारे) और फ़िरंगी (अंगरेज और फ्रेन्च) एक दूसरे से लोहा आजमा रहे थे, फिर भी भाषा की दृष्टि से यह सूर्यास्त काळ अदम्यदम्य साबित हुआ। ज्यों ज्यों दिल्ली आगरे आदि छाहों की महत्ता घटती गई, त्यों त्यों पछाँही अंगरवाले खत्री आदि अपने व्यापार के लिये 'नई हरियाली' की खोज में लखनऊ बनारस पटना आदि पुरबी प्रदेशों में आ आकर बसने लगे। इन व्यापारियों के साथ इनकी खादी बोली भी लगी चलती थी, अतः इसका भी प्रचार होने लगा; और धीरे धीरे इसके राष्ट्रभाषारूप का धूमिल रूप निखरने लगा। तत्पर्य यह कि मोगल साम्राज्य की अवनति खादी हिन्दी की उन्नति का साधन सिद्ध हुई। उसकी चिता के भस्म से खादी हिन्दी के कलेवर में अभूत लगी और वह साहित्य के विविध क्षेत्रों में विचरती हुई अस्सल जगाने लगी।

(२) इसके अतिरिक्त, अंगरेजों का पैर जब भारत में जम गया तो उन्हें भी अपनी राज्यमयस्या के संभालन के लिये यहाँ की भाषा सीखना अनिवार्य हो गया। अतः लार्ड वेलेज़ली (Lord Wellesley) ने इन्डियन सिविल सर्विस (Indian Civil Service) के अंगरेज परीक्षार्थियों के लिये "भारतीय जनता के इतिहास, भाषाओं, रीति तथा रिवाजों का ज्ञान" की उपादेयता बताई। साथही साथ वेलेज़ली ने स० १८५७ में फोर्ट विलियम कलेज (Fort William College) भी स्थापित किया और उसके अध्यक्ष जीन

गिल्क्राइस्ट (John Gilchrist) ने स० १८६० में उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी की गद्य-पुस्तकें तैयार करने के लिये लन्डन और सटल मिथ को नियुक्त किया ।

कचहरी की भाषा की समस्या भी राज्यव्यवस्था की समस्या का अंग बन कर खड़ी हुई । अंगरेजों के पहले कचहरी की भाषा मुख्यतः फारसी थी, अतः स्वभावतः वही उन्हें बपौती में मिली । किन्तु फारसी, जनता के रोजमर्रा व्यवहार की कचहरिया भाषा कब तक रह सकती थी, खास कर ऐसी दशा में जब हमारे नए शासकों की दृष्टि में भी फारसी का कोई महत्व नहीं था । अतः स० १८९४ में भारत सरकार ने फारसी के स्थान में प्रांतिक बोलियाँ जारी करने की आज्ञा जारी कर दी । सही बोली को संयुक्त प्रान्त और बिहार की प्रांतिक बोली मान कर इसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम दिया गया । लेकिन इस पर फारसी-अरबी की इतनी गहरी छाप पड़ी थी कि वह अब तक नहीं मिट सकी है ।

शिक्षित एवं सभ्य ब्रिटिश शासकों को भारतीयों की शिक्षा की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य हो गया, यदि इस लिये नहीं कि मानवता के नाते भारतीयों को शिक्षित बनाना अंगरेजों ने अपना कर्तव्य समझा, तो कम से कम इसलिये कि बिना कुछ शिक्षित कर्मचारियों का दल तैयार किये शासकों और शासितों के बीच किसी प्रकार की व्यवस्था चल ही नहीं सकती थी । अतः स० १८७० में भारतीयों की शिक्षा के लिये एक लाख ८५९ स्वीकृत हुए और भारतीय ढंग के संस्कृत के कालिजों का सूत्रपात हुआ । किन्तु संस्कृत कालिजों से शासकों को उपयुक्त मानव सामग्री नहीं मिल सकती थी ; अतः स० १८९० में लार्ड मैकाले (Lord Macaulay) ने शिक्षाप्रणाली की

एक विलकुल नई गतिविधि प्रस्तुत की। उन्होंने अंगरेजी भाषा को सामान्य रूप से शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में रिपोर्ट दी। आज भी हमारी शिक्षाप्रणाली की माझी लार्ड मेकाले की बिठाई हुई पटरी पर बड़ी तेजी से दोड़ रही है। किन्तु चिन्ताशील भारतीयों के हृदय में इसके विरुद्ध बहुत उम्र भावना काम करने लग गई है, क्योंकि जो ब्रूम्य भारतेन्दु ने आज से पचासों वर्ष पहले लिखा था—

एक बुलायै, सेरह धायै
निज निज विपदा रोय मुनार्यै
आखँ कृदा भरा न पेट
क्यों सखि साजन! नहीं, मेशुष्ट ।

—वह आज भी मम एवं नम्रतर रूप में उपयुक्त प्रतीत होता है। एक ओर तो मन्त्रे की सदी से अधिक अज्ञान के गहरे गर्त में निमज्जित जन-समूह, और दूसरी ओर दस दस रुपए की नौकरी की मृगनृणा के पीछे येतहास दोड़ने वाले मेशुष्ट-जुरंग ! वस्तुतः यह स्थिति अतीव शोचनीय है। किन्तु जो भी हो, इस ऊटक शिक्षाप्रणाली ने भी खड़ी हिन्दी को काम ही पहुँचाया है, क्योंकि पहले यह बर्नोक्कुलर के रूप में पढ़ाई जाती थी, और अब तो कई विश्वविद्यालयों और अनेकानेक महाविद्यालयों में प्रधान विषय (Principal subject) के रूप में पढ़ाई जाती है। इस सिलसिले में अनेकानेक उच्छकोटि के साहित्यों से खड़ी हिन्दी की शोली भरी गई है।

(३) यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्र पर आक्रमण करने के लिये एक हाथ में तलवार रखता है तो दूसरे हाथ में धर्म प्रचार के मरहम की डिबिया भी। एक हाथ से उसके अंग का भंग करता

हे, तो दूसरे हाथ से घायल हृदय पर भरहम का लेप भी । फलतः यदि एक ओर हमारे शासकों ने अपनी मुख्यवस्था के बन्धन में हमें भौतिक रूप से जकड़ने का इन्तजाम किया, तो दूसरी ओर ईसाई पादरियों ने ईसाइयत के प्रचार द्वारा हमारे आध्यात्मिक पालतूपन के लिये भी पिंजड़े तैयार किये । विलियम कैरे (William Carey) ने-जिसने श्रीरामपुर में मिशन तैयार कर धर्म प्रचार आरंभ किया-सत्तरह स भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया अथवा कराया । सं० १८१५ तक हिन्दी का अनुवाद भी छप चुका था । अनेक दृष्टियों से हमारी खरी हिन्दी भारत में यत्र तत्र सर्वत्र फैले हुए ईसाई मिशनरियों की करणी है । उनमें एक प्रचलन दृष्टि यह भी है कि इन्होंने 'हिन्दी' के नाम से विशुद्ध खरी हिन्दी का प्रचार किया है न कि उर्दू-हिन्दी-मिश्रित हिन्दुस्तानी का । दूसरी, यह कि अपने धर्म ग्रन्थों के सिलसिले में इन्होंने रामायण आदि हमारे निजी धर्मग्रन्थों तथा व्याकरण एवं अन्य पाठ्य पुस्तकों को भी मुद्रित तथा प्रकाशित किया और कराया है ।

(४) खरी हिन्दी के प्रचार में छापाखाने ने जो भाग लिया है उसकी अत्युक्ति हो ही नहीं सकती । छापाखाने के प्रवेश और प्रचार का आदिम श्रेय हमारे विदेशी शासकों एवं मिशनरियों को है । अब तो भूर्जपत्रों और ताल-पत्रों के युग की हम भूल चुके हैं और नगर नगर में पुस्तकों और पत्रों के प्रकाशन का आयोजन हो चुका है ।

(५) सन् सन्तापन के गदर ने भी अकृशु रूप से खरी हिन्दी के व्यापकत्व में योग दिया । तत्पश्चात् देखा जाय तो जिस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भारत के आधुनिक इतिहास में सिपाही-विद्रोह (गदर) के बाद की ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के राज्य का-खन्त करनेवाली घोषणा एक महान् क्रान्ति की

परिचायक है, उसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नवयुग प्रवर्तक साहित्य सन्तावन की राजनीतिक क्रान्ति का साहित्यिक संस्करण है। भाव, भाषा और शैली-तीनों दिशाओं में हिन्दी ने अपना पुराना कंबुक पेंक कर नया कंबुक धारण किया। सरललाल आदि के समय में जो खड़ी हिन्दी खरी होती हुई भी सदसदा ही रही थी वह अटक कर खड़ी हो गई।

किन्तु इसी समय उसे एक विचित्र उलटान का सामना करना पड़ा। उसके हिमायतियों के दो दल हो गए। एक तरफ भारतेन्दु ने खड़ी हिन्दी को अपने नैसर्गिक और विशुद्ध रूप में देखना चाहा, तो दूसरी ओर राजा शिव-प्रसाद 'सितारे हिन्द' ने 'आम फहम' और 'शास पसन्द' भाषा का ताईद करते हुए उसके मिश्रित रूप का पृष्ठपोषण किया। किन्तु "राजा शिवप्रसाद 'आम फहम' और 'शास पसन्द' भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिन्दी अपना रूप आप सिधर कर चली"^१। परवर्ती विकास का जो भी स्वरूप निश्चय, इतना तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतेन्दु और सितारे-हिन्द दोनों ने हिन्दी की अमूल्य सेवाएँ कीं। मोगल शासन के समय से चलती आई हुई मनोवृत्ति का कुछ ऐसा दूषित प्रभाव पड़ा था कि हिन्दी को 'गवॉरू' और 'भाखा' कह कर तिरस्कृत किया जाता था, और पढ़े लिखे हिन्दू भी तर्जदार उर्दू बोलने में ही शिष्टता की निशानी समझते थे। सितारे हिन्द ने, जिनका सरकार के यहाँ भी बहुत मान था, और जो स्वयं शिक्षा विभाग के उच्च कर्मचारी थे, इस मनोवृत्ति के निराकरण में बहुत हाथ बँटाया। अतः भारतेन्दु पर न्याय करते हुए भी सितारे हिन्द पर अन्याय करना अन्याय्य होगा। इस युग की चर्चा करते समय तीन और साहित्य सेवियों का

उत्तेरत अनिवार्य हो जाता है। वे हैं—राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द और भद्राराम कुस्तूरी। इन तीनों ने भी अपने अपने पृथक् क्षेत्रों में भारत-तेन्दुनिर्दिष्ट शरण का ही अनुसरण किया।

भारतेन्दु के जीवनकाल में तथा उनके कुछ ही बाद उनकी साहित्यिक रचनाओं से प्रेरित होकर तथा सिपाही विद्रोह के पश्चात् उदय सेनेवाली राज नीतिक एवं सामाजिक चेतना के फलस्वरूप, एक रास्ता मंजूर हो गया, जिनमें निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—बदरीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, सोताराम, जगमोहन सिंह, श्री निवासदास, बालकृष्ण भट्ट, वेशवराज भट्ट, अम्बिकादास व्यास, राधाचरण मोस्वामी, देवकीनन्दन रात्री, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि। वे उपरिलिखित व्यक्ति मुख्यतः गद्य के क्षेत्र में आगे बढ़े। किंतु पद्य के क्षेत्र को सुन्नोभित करनेवालों में निम्नलिखित नाम विशेषतः उद्धरणीय हैं—भीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा, लोगनप्रसाद पांडेय आदि। उपर्युक्त स्थालीपुलाही सूची में महावीरप्रसाद द्विवेदी का स्थान अग्रिमतः है। यद्यपि स्वयं उन्होंने हिन्दी भारती को कोई अमूल्य भेंट नहीं दी, तथापि उनकी 'सरस्वती' कवियों और सेराकों के बनवने की मानों उर्वर-भूमि अथवा रक्षणशाला (nursery) सिद्ध हुई। मैथिलीशरण गुप्त का भी वाध्य-कारपत्रक मुख्यतः इसी रक्षणशाला की देन है। द्विवेदी-मंडल के बाद भी हिन्दी साहित्य-सेवकों की कमी न थी। राज देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रायनारायण पांडेय, लाला भगवान दीन, रामनरेख त्रिपाठी, रुपनारायण पांडेय आदि ने भी तरकाशीन वाध्याकाश को आलोकित किया।

भारतेन्दु के समग्रजीन अथवा परवर्ती जिन कवियों के नाम ऊपर दिये गए हैं उनमें कमसे कम तीन ऐसे हैं जिन्होंने छायावाद की अनंत क्रान्तियों के साथ साहित्य-गुमन-स्थली में अवतीर्ण होने वाले नवयुग में भी अपने ब्यक्तित्व की कायम रक्खा है। वे हैं—रामनरेश त्रिपाठी, हरिऔध, और मैथिलीशरण गुप्त। इन तीनों में श्री रामनरेश त्रिपाठी और हरिऔध ने वय के अतिरिक्त गम्भीर आलोचना के मयक्षेत्र की भी साजा सँकारा है, और गुप्तजी ने इस क्षेत्र में कोई प्रयास नहीं किया। किन्तु कविता के क्षेत्र में प्रगतिशीलता की दृष्टि से गुप्तजी का स्थान सर्वोच्च है। नवयुग ने गुप्तजी की कविताओं की जितना गौरव दिया है, उतना अन्य को नहीं। उसने इस महान कविसे अनन्त प्रेरणाएँ ली हैं। संभवतः इसी विशेषता की ध्यान में रखते हुए शक्ति-प्रिय द्विवेदी ने लिखा था—“किसी माता में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है वह वर्तमान कविता में गुप्तजी का है। अतएव खड़ी बोली की वर्तमान कविता के प्रधान और प्रथम प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं”^१

गुप्तजी की कला
में
उपयोगितावाद

अभिनव आलोचना-संसार में कला के सत्य के संबंध में बहुत से विचारकों ने मीमांसा की है। गुप्तजी भी अतिरेक नहीं हैं। उन्होंने अपने काव्यों में जहाँतहाँ, और 'हिन्दू' की भूमिका में विशेषतः और विस्तृत रूप में, इस समस्या की समीक्षा की है। इस प्रसंग में उन्होंने जो विचार-बिन्दु प्रस्तुत किये हैं वे संक्षेप में ये हैं—

(१) नवयुग छायावादी काव्य केवल 'सुन्दरम्' का उपासक है 'सत्यम्' और 'शिवम्' का नहीं। उसके पक्षपातियों का विचार है कि सौन्दर्य में अशो-भन का अवकाश ही ही नहीं,—सौन्दर्य स्वर्गीय है। किन्तु गुप्तजी की यह सिद्धान्त मान्य नहीं है, क्यों कि:-

(क) सभी सौन्दर्य स्वर्गीय नहीं है; "क्यों कि यह भी तो परीक्षित हो जाता चाहिये कि कहीं मूलों में तत्त्वक नाग तो नहीं छिपा बैठा है। अनन्त सौन्दर्य के आधार श्रीराधाकृष्ण की सौन्दर्य-सुमन-राशि में भी जब हमारे प्रमाद से उसका प्रवेश संभव हो गया तब औरों की बात ही क्या?"

तात्पर्य यह कि सौन्दर्य के नाम पर मही बदलीलता को भी पासपोर्ट मिल जा सकता है, और मिला भी है। अतः 'सुन्दर' को 'शिव' अर्थात् जनमंगल-धायक होना आवश्यक है।^१ यदि सौन्दर्य स्वयं एक बड़ा भारी गुण है तो गुण भी एक बड़ा भारी सौन्दर्य है।^२

(ख) सौन्दर्य का संवेदन सापेक्ष है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' के अनुसार एक की भावना को जो वस्तु सुन्दर प्रतीत होती है, वह दूसरे को असुन्दर मालूम होगी।

(ग) केवल सौन्दर्य को स्वर्गीय बना देने से \square हमारे उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती जब तक सौन्दर्योपासकों में भी स्वर्गीयता का समावेश न हो ले। स्वर्गीय काव्य के रसिधों में भी तो स्वर्गीय भावुकता अथवा मामिकता होनी चाहिये,^३ किन्तु न तो ऐसा होना और न वैसा होगा।

(घ) इसके अतिरिक्त संसार आखिर संसार ही है, और हमारे काव्य का आधार भी यही संसार है। "परन्तु जब तक यह संसार स्वर्ग नहीं हो जाता, तब तक हम सांसारिक ही रहेंगे"।^४ और जब तक हम सांसारिक रहेंगे तब तक केवल और निरे सौन्दर्य की उपासना संभव नहीं है। "पार्थिव प्राणियों को पार्थिव साधनों का ही सहारा लेना पड़ेगा"।^५ यही कारण है कि गुप्तजी ने—

छुरे काटते हैं जो नारु
होते हैं बहुधा सविकार।

-
- | | | |
|-------------|---|------------|
| १. 'हिन्दू' | — | पृ० १८-१९। |
| २. " | — | पृ० १७। |
| ३. " | — | पृ० २७। |
| ४. " | — | पृ० ३३। |

-येही दृष्टिसे जितना उचित समझ है, "बर्ना कवि 'स्वर्गलोक' में
बहिर धरनों से जित्नी खबरबख्त का नीरव गान बरसा मूढ भण्डार सुना
भनसुना कर बिका उठता—

गूँज गया नेता जनमान

रस्य लोक में नीरव पाव' !"

(i) मरसुषा कचे विश्वमचना के विद्वान के सङ्गरे देश और जमी-
नका की सीमित माशमूमि से उठ कर विराजमान एवं सर्वमौल काष्म के
पादादप में विचारन करना चाहता है । किन्तु दुपली के विचार में संसार
के 'सम्मिलित स्वर्ग' की यूटोपिया (Utopia) हम मनों की परीषि से बाहर
की चीज है । वे अपने देश और जमी के संकीर्ण दृष्टिकोण को न छोड़ सकने
हैं और न छोड़ना चाहते हैं । यदि कवि की "दुष्क दुष्कान्दी सीने नाग
से बल्लो हुई पाए किन्ना जलिंगला में ही एक दुखी लपटकर 'हरयंग'
या सके तो वह इनसे से ही कृताह्व ही जपयते" ।

(ii) कला के बिये-कला वादियों का विचार है कि कविता ॥ सदा
उपदेश नहीं है, किन्तु दुपली इस बात के विरुद्ध है । उनका विचार है कि
उपदेश होने के भी लीके हैं । जिस प्रकार ऐसी की कल्प देवे के लिये दश
मजुर किन्ना स्वेच्छर रूप में प्रस्तुत करना चाहिये, वही तो ऐसी दशे द्वारा
॥ नहीं, उसी प्रकार उपदेश की भी मनोहर रूप में प्रस्तुत करने के लिये
उपदेश कविता-संस्कृति आवश्यक है । इस प्रकार उपदेश के भी दे-
न हुए :-

१. हिन्दू १० ३२-३६ ।

२. " १० ३४ ।

सरस उपदेश

नीरस उपदेश ।

नीरस उपदेश मले ही आचारशास्त्र की विशेषता हो, किन्तु सरस उपदेश देने में तो कवि ही समर्थ है ।

(iv) यदि मान भी लिया जाय कि साधारणतः उपदेश देना कविता का लक्ष्य नहीं है, तथापि भारत की जैसी दौन हीन दशा है, जिस प्रकार वह आप-पतन के अन्धकूप में गिरा कर रह रहा है, उस दशा और उस प्रकार को ध्यान में रखते हुए कवि को मसीहा बनना ही पड़ेगा । “उपदेश देना उसका काम नहीं; न सही; परन्तु आपत्तिकाल में मर्यादा का विचार नहीं रहता ।” कवि की उपदेश-प्रवणता एक ‘इमरजेन्सी’ (emergency) है । उसे हमें धैर्य्य मारम गमः का संदेश देना है ।

भाषा का संदेश सुनो, हे

भारत ! कभी हताश न हो !^१

(v) गुप्तजी कविता के क्षेत्र में सुधारवाद के समर्थक हैं । जिस प्रकार भारतेन्दु ने—

तजि मामकविता सुकविजन की भयूष यानी सब लई ।

—जैसे सिद्धान्तवाक्य के द्वारा कविता के आगमन ॥ वहीं से एकत्रित कूड़ाकूँट को साफ़ मुहार कर फेंक देने के लिये युगवाणी को आमन्त्रित किया था, वही प्रकार गुप्तजी ने भी परम्परागत अतिश्रृङ्गारिक कविताओं के विरुद्ध क्रान्ति की बिगुल फूँकी है, वे कहते हैं :—

१. ‘हिन्दू’—पृ० ३० ।

२. स्वदेश-मगीन (भाषा वा संदेश) पृ० ७३ ।

करते रहते विष्टेषण और एक कविबरो !
 रुच, रुच, रुचों पर भरो ! अब तो न जीते जी मरो !^१

पुनः—

आनन्ददात्री सिधिका है सिद्ध कविता कामिनी
 है जन्म से ही यह यहाँ घोराम की अनुयामिनी ।
 पर अब तुम्हारे हाथ से यह कामिनी ही रह गई
 ज्योत्स्ना गई, देखो, अँधेरी यामिनी हो रह गई ॥^२

तत्पश्चात् यह कि गुप्तजी बाल्यकला में विद्युत्तालाद एवं उपयोगितावाद के पक्षपाती हैं ।^३ न तो वेकल आनन्द और न निरा शिक्षण, अभिवृत्त दोनों ही, कविता के उद्देश्य हैं ।

वेकल मनोरंजन न कवि का कर्म होता चाहिये ।

कलमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये ॥^४

यह आनन्ददात्री के साथ साथ 'सिधिका' भी है । उसे अपने हाथ में सिद्धभावना की धातु लेकर देवी भारती की ऐसी आरती उतारनी होगी जिसकी पवाकामास से अनादि भावनाएँ मरुत हो जायँ ।

सुन्दर को सजीव बरती है मीथन को निर्जीव कला ।

१. भारत-भारती (अभिव्यक्त राट) पृ० १७० ।

२. भारत-भारती (अभिव्यक्त राट) पृ० १७२ ।

३. तुलना कीजिये—“गुप्तजी किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही चलते हैं ।... उपयोगितावाद गुप्तजी को उपग्रहवाद के ॥ में ग्राह्य हुआ है ।”—सत्येन्द्र-गुप्तजी की काल—पृ० ७३ ।

शुभजी के विचारों का संक्षिप्त निदर्शन करने के उपरान्त यह भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सत्त्वतः कविता क्या है और उसका क्या हेतु होना चाहिये। कविता की परिभाषा पंडितराज विश्वनाथ ने 'वाक्य सात्मकं काव्यम्' ^१ की है; अर्थात् शृंगारदि रसों से प्रभावित वाक्य काव्य है, सी प्रकार जगन्नाथ पंडित ने 'रमणीय अर्थों' के प्रतिपादक शब्दों को कविता कहा है—“रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्”। पाश्चात्य आलोचकों में म्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) ने इसे 'जीवन की समालोचना' (Criticism of life) कहा है और कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) इसे 'बेगवान मनोवेगों का साहचर्यक अतिप्रवाह' (Spontaneous overflow of powerful feelings) कह कर सूचित किया है। उपर्युक्त रिभाषाओं की ध्यान में रखते हुए एक परिभाषा यों गड़ी जा सकती है— कविता सरल सहज-मधुर एवं भावुकता-प्रधान पदों में मानव तथा मनुष्य-जीवन की समालोचना है।

अब इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि जीवन के किन अंगों की ओर सी समालोचना कविता के क्षेत्र में फैल होगी। क्या मानव-जीवन के बीभत्स पक्षों भी कविता के अम्बर में बूटे बनाकर सजाए जायेंगे? यदि हाँ, तो या अपने मर्म रूप में अथवा परिवर्तित रूप में?

आलोचकों का एक दल—जिसमें हम स्वप्रसिद्धान्तवाद, व्यापारवाद और कला-के-लिये-कलावाद के हिमायतियों को गिन सकते हैं—यह कहता

१. इन बातों की सूचित व्याख्या के लिये देखिये—श्यामसुन्दर दामः साहित्य-चिन् (परिचालन सत्यरथ) पृ० ८-९।

है कि कविता एक सलित कला है और सलित कला 'मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है'। सौन्दर्य में शोमन और अशोमन का भेदभाव कविता के लिये विषयान्तर है। वह अपनी सौन्दर्यानुभूति की तृष्णा शांत करने चली है, न कि सदाचार की रेखा खींचने। वह आनन्दसागर में गोते लगाते समय छेद छक् नहीं चाहती। ड्राइडेन (Dryden) का मत है कि "कविता का यदि एकमात्र नहीं तो कम-से-कम प्रमुख ध्येय आनन्ददान है; शिक्षादान का ध्येय यदि अंगीकृत भी किया जाय तो केवल गौण रूप से।"^१ प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक ब्रैडले (A. C. Bradley) ने कविता-के-लिये-कविता (Poetry for poetry's sake) के गूढार्थ को विशद करते हुए लिखा है कि कविता-के लिये-कविता-वाली शक्ति का आशय प्रथम तो यह है कि कविता किसी लक्ष्य का साधन नहीं है, स्वयं ही लक्ष्य है; दूसरे, कविता की परख स्वयं कविता ही है, अन्य बाहरी दृष्टियों को ला घसीटना कविता के प्रति अन्याय है^२। ब्रैडले के

१. रवानसुन्दर दास: गद्य वृत्तमावली—१०७।

२. "Delight is the chief, if not the only end of poetry; instruction can be admitted but in the second place." (Quoted by Richards in "Principles of Literary Criticism"—Page 68.)

३. A. C. Bradley:—Oxford Lectures on Poetry—P. 5. What then does the formula "Poetry for poetry's sake" tell us about this experience? It says, as I understand it, three things. First, this experience is an end in

कथन का सूक्ष्मतर विद्वेपण करते हुए रिचार्ड्स ने 'कव्याय कव्यम्' वादी की भावना के निम्नलिखित चार विचार-बिन्दु प्रस्तुत किये हैं:—

(i) धर्म, जातीयता, उपदेश, शक्ति, धन आदि सारी बातें कविता के लिये विषयान्तर हैं ।

(ii) कविता के अच्छे बुरे होने का प्रमाण कविता स्वयं है ।

(iii) धर्मादि उपरिलिखित लक्ष्यों को ध्यान में रखकर लिखी गई कविता उच्च कोटि की नहीं हो सकती ।

(iv) कविता की अपनी निजी दुनियाँ है, स्वतंत्र, संपूर्ण, सर्वांगीण ।

इन पर विचार करते हुए रिचार्ड्स (Richards) ने यह मतलाया है कि कविता में इस प्रकार स्वान्तः-सुखाय-वादिता न हो उचित है और न संभव । इसके अतिरिक्त इस धेतुकी दृष्टि से देखा जाय तो विश्व-साहित्य के बड़े-से-बड़े कवि भी अपना सिर ऊँचा नहीं रख सकेंगे । सोलोमन

itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion; because it conveys instruction or softens the passions, or furthers a good cause; because it brings the poet fame, or money, or a quiet conscience. So much the better; let it be valued for these reasons too. But its ulterior worth neither is nor can directly determine its poetic worth as satisfying imaginative experience; and this is to be judged entirely from within.

(Solomon) के संगीत, बन्यन (Bunyan) का पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrim's Progress) और गेटे (Goethe) का फौस्टस (Faustus)-ये सभी किसी आध्यात्मिक सत्य को रस कर लिखे गए हैं। उसी प्रकार रामायण, महाभारत, प्रबोधचंद्रोदय आदि अमर भारतीय रचनाओं में मानवता को संदेश देने की प्रबल लालसा व्यक्त है। क्या ये सारी कौ-सारी साहित्यिक विभूतियाँ अनायास ही मिट्टी में मिला दी जयें ?

अतः हमें उसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिये जिस पर होरेस (Horace) पहुँचा था। “कवियों का उद्देश्य या तो शिक्षा देना होता है या आनन्द देना या दोनों को मिला देना। अतः ठोस और उपयोगी को आनन्ददायक के साथ समन्वित कर दो।”¹

ऊपर की पंक्तियों में विविध वादों के जिसे विवाद की ओर संकेत किया गया है उसके मूल में निहित है दृष्टि की एकगिता। समालोचकों ने कविता को ‘अर्थों का हाथी’ मान रक्खा है। किन्तु यदि हम यह मान लें कि कविता किसी एक वाद की तंग गली में नहीं चला करती; बल्कि विविध प्रकार की होती है और विविध प्रकार की कविता की परख के लिये विविध दृष्टिकोणों की आवश्यकता है, तो फिर यह व्यर्थ की विलंबता आसही शान्त हो जाती है।

1. Poets either wish to instruct or to delight or to combine the two. Join the so'rd and useful with the agreeable.—Horace.

Quoted by Richards in his Principles of Literary Criticism—P. 68.

सारंश यह कि कविता के लिये न केवल यथार्थवाद की उपदेयता है, बल्कि उपयोगितावाद की भी । निरे यथार्थवादी कवि कविता के दायरे को संकुचित कर देते हैं और यथार्थवाद के नाम पर होने वाले अनर्थवाद के लिये रास्ता खोल देते हैं । अतः गुप्तजी यदि काव्य के द्वारा राष्ट्र, जाति अथवा मानवता को सीख और संदेश देते हैं तो फिर भी वे कवि बने ही रहते हैं । सीख और संदेश देने के भी हंग हैं, यदि कवि उपदेशक होता हुआ भी रोचक बना रहा तो उसकी कविता उच्च कोटि की समझी जायगी । हमारे भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने तो कविता के लक्ष्यों को गिनाते हुए उपदेशप्रदान को भी सम्मिलित किया है, किन्तु चर्त यह रखनी है कि वह उपदेश सरस हो, वैसा ही, जैसा कि कान्ता का कमनीय बल्ललाप ^१ । मानु-
कता और सरसता—ये ही कविता की जान हैं ।

संभव है कि इस अन्तिम आधार पर हम गुप्तजी की कुछ कविताओं की शुद्धि या उद्घाटन कर सकें, और करें, किन्तु उसका उद्देश्य आलोचना-अगत को खाय देना होगा; न कि गुप्तजी के व्यक्तित्व पर आक्षेप । कवि ने स्वयं ही कहा है कि “यदि हम किसी निर्बंध की एक एक पंक्ति में रस की खोज करने लगेंगे तो वाक्यों की सी बात ही क्या महाकाव्यों को भी अपना स्थान छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ेगा”^२ । हमें इस कथन से पूर्ण सहमति है । विशुद्ध रूप से द्रष्टा तत्र शुद्धिर्गत होते हुए भी संद्विष्ट रूप में काव्य विशेष को रस कोटि का माना जा सकता है—इसमें सन्देह नहीं ।

(१) मम्मटाचार्य — वाक्यप्रवारा—

वान्य वानेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेनत्तरे ।

सद्यः परनिर्गन्धे बान्नाममिननयोपदेशान्ते ॥

(२) हिन्दू—पृ० ३७-३८ ।

गुप्तजी
की
काव्य-कला

श्यामसुन्दर दास ने काव्य के चार उपकरण गिनाए हैं—

१. सौंदर्य
२. रमणीय-अर्थ
३. अलंकार और रस
४. भाषा^१ ।

उसी प्रकार अरस्तू (Aristotle) ने द्रुशान्त नाटकों की बर्णना करते हुए काव्य के निम्नलिखित छः विभागों की समीक्षा की है:—

१. कथावस्तु (Plot)
२. चरित्र (Character)
३. रचनाशैली (Diction)

१. साहित्यतोचन पृ. ५२-५६ ।

४. भावविधान (Thought)

५. दृश्यविधान (Spectacle)

६. संगीत (Song) ।^१

ये दोनों विभाग हमारी सम्मति में अम्यासि अथवा अस्तिन्यासि के शिखर हैं। वदाहरणतः प्रथम विभाग में 'रमणीय अर्थ' और 'सौन्दर्य' अलग-अलग माने गए हैं; किन्तु 'रमणीय' भी तो 'सुन्दर' का ही पर्यायवाची है; अतः सौन्दर्य के अन्दर उसका भी समावेश हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'सौन्दर्य' कुछ हदतक व्यापक गुण है कि प्रायः सभी अन्य काव्यगुण इसकी छत्रच्छाया में छिप जा सकते हैं। अरस्तू के विभाजन प्रकर में भी 'रचना-शैली' और 'संगीत' को अलग अलग मानना बेवजह नहीं, क्योंकि संगीत शैली का ही एक अंग है। इन बातों को तथा आलोच्य कविविशेष की काव्य-कला को परस्पर के विशिष्ट पक्षों को ध्यान में रखते हुए, हम निम्नलिखित बिन्दुओं में अपनी आलोचना प्रस्तुत करेंगे—

(१) कथा-वस्तु अथवा काव्य-वस्तु ।

(२) भाव विन्यास ।

(३) भाषा सौष्ठव ।

(४) रचना-शैली ।

(१) कथावस्तु :—इस प्रसंग में कथावस्तु का प्रयोग एक अर्थ-विशेष में किया गया है। साधारणतः कथावस्तु किसी काव्य-विशेष की ओर

1. The Poetics of Aristotle, Ed. S. H. Butcher (1929) p. 29.

संक्षेप करती है। यथा:-‘साकेत’ की कथावस्तु, ‘यशोधरा’ की कथावस्तु आदि। ऐसे स्थलों में कथावस्तु का मतलब किसी काव्य के आधारभूत कथानक अथवा प्लॉट (Plot) से होता है जिससे चर्चा जहाँ-तहाँ मुख्य-मन्य के पृष्ठों में की गई है। परन्तु जहाँ हमें गुप्तजी की सामूहिक रचनाओं पर दृष्टि पड़ानी है, वहाँ यह विचारना होगा कि गुप्तजी के काव्यों के कथानक दिन-दिन को-दिनों में आते हैं, उनका व्यापकता कैसी है, वे दिन-दिन आकरों से उद्भूत हैं और किन-किन दिशाओं में प्रेरित हुए हैं। सत्येन्द्र ने कवि की कृतियों की सामान्य समीक्षा करते हुए उनका छः मुख्य दिशाओं का उल्लेख किया है:-

(१) राष्ट्रीय

(२) महामारत-संबन्धित

(३) रामचरित-संबन्धित

(४) वैदिककालीन

(५) विविध तथा अन्य ऐतिहासिक घटना-संबन्धित

(६) पौराणिक।

इन विभागों में कुछ परिवर्तन करते हुए एक सन्निध प्रस्तुत की जाती है जिससे उनकी रचनाओं और उनके आधारभूत क्षेत्रों का क्षेत्रीयन परीक्षण मिल सके:-

संख्या	स्रोत श्रेणी	रचनाएँ
(१)	राष्ट्रीय, अतीव एवं सामाजिक-	स्वदेशसंगीत, भारत-भारती, बैतालिक, किसान
(२)	रामचरितमूलक	साकेत, पद्मवती
(३)	कृष्णचरितमूलक	द्वापर
(४)	बौद्धसंस्कृतिमूलक	यशोधरा, अनप
(५)	हिन्दू-संस्कृतिमूलक	हिन्दू, विष्णुभट, रंग में भंग, पद्मावती
(६)	शिवसंस्कृतिमूलक	गुरुकुल
(७)	पुराणमूलक	चन्द्रहास, राकुन्तला, तिलोत्तमा, शक्ति
(८)	महाभारतमूलक	जयदयवध, सैरंगी, बरसंहार, वनवेभार, बहुप
(९)	निविध (संप्रदायिक)	मंगलपट, झंझर

इस तालिका से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

- (१) गुप्तजी के काव्यों का प्रतिपाद्यविषय बहुत व्यापक है।
- (२) उन्हें जितनी अपने अतीत गौरव की उद्गाधना की सालसा है उतनी वर्तमान राष्ट्र या समाज के जीवित चित्र अंकित करने की नहीं।
- (३) संस्कृति की विस्तृत परिधि में उन्होंने बौद्ध, हिन्दू और सिक्ख

तीनों को सम्मिलित किया है । संकुचित सम्प्रदायवादिता से वे ऊपर उठे हुए हैं ।

(२) भावचिन्पासः—भावों के विन्यास के उत्कर्षापकर्ष पर विचार करने के लिये निम्नलिखित बिन्दुओं पर अपनी आलोचना केन्द्रित की जा सकती है—

१. रसों का परिपाक ।

२. चरित्र-चित्रणः भावों की मनोवैज्ञानिकता ।

३. भावस्थितियों की चित्रवत्ता (picturesque and graphic descriptions of situation) ।

४. कल्पना का उत्कर्ष ।

१. रस-परिपाकः—पुस्तक के मुख्यांश में गुप्तजी की प्रत्येक रचना के सम्बन्ध में आलोचना की गई है ; और यद्यपि हमारा प्रधान लक्ष्य काव्य-कलित स्थलों का उद्भावन करना रहा है तथापि प्रसंगागत अन्य रसों पर भी सरसरी दृष्टि डाली गई है । सामूहिक रूप से यहाँ यह कह देना है कि गुप्तजी की रचनाओं में प्रधानतः दो रसों का परिपाक हुआ है—करण और वीर । इनमें भी करण का स्थान सर्व प्रथम है, वीर का द्वितीय । इस उक्ति के विवरीकरण के लिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठों का अनुशीलन अपेक्ष्य है । करण और वीर के पश्चात् तृतीय स्थान शृंगार को दिया जा सकता है । 'पञ्चवटी' 'साकेत' तथा अन्य काव्यों में स्थल स्थल पर शृंगाररस के सुन्दर और सौम्य संनिवेश के उदाहरण मिलते हैं । यथा—'साकेत' के आरम्भिक सर्ग में लक्ष्मण-उमिश्र के वे प्रेमाख्यप, जिनके सौंदर्य पर सुम्भ होकर

कवि कह उठता है:—

प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है

हार में त्रिसमें परस्पर जीत है ;

अथवा 'पंचवटी' की वह परिस्थिति जिसमें शूर्पणखा को केन्द्रीयबिन्दु बनाकर राम लक्ष्मण और सीता तीनों परस्पर शृंगार और हास्य के त्रिकोणित सद्भावन में भाग लेते हैं। इनमें राम और सीता का शृंगार तो शुद्ध शृंगार की कोटि में परिगणित होगा, किन्तु सीता और लक्ष्मण का भाभी-देवर-बाल परस्पर हास्यविनोद संभवतः शृंगार और हास्य दोनों की सीमान्तरेखा पर अभिष्टित समझा जायगा। यदि यह कहा जाय कि यह परिहास अभिष्टित हास्यरस का नमूना है, तो संभवतः ऐसा मानने में द्विषक होगी। इसके कारण, हमारी सम्मति में, यह है कि शुद्ध हास्य की लिंगवैषम्य की अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती; यदि कोई परिस्थिति हास्यप्रद होगी, तो चाहे पुरुष पुरुष एक साथ हों, अथवा स्त्री-पुरुष एक साथ हों, वहाँ हास्य का उद्रेक होगा ही। किन्तु भाभी-देवर वाले परिहास की परिहासता विभिन्नलिङ्गीय व्यक्तियों पर निर्भर करती है। अतः यह परिहास शुद्ध हास्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु साथ ही साथ इसे शुद्ध शृंगार भी तो नहीं कह सकते। यदि हम लक्ष्मण और सीता के परस्पर विनोद को शृंगारभावना से प्रेरित मानें तो अपनी सहस्राब्दियों की सखित सांस्कृतिक सम्पत्ति को खो देंगे। वस्तुतः रामचरित के लोकोत्तर आदर्शवाद के सादे परिधान पर भाभी-देवर की भीताकाशी करके गुप्तजी ने अपनी सौन्दर्यभावना को एक ऐसी द्विकोटिक राह में चलने को प्रेरित किया है जिसमें लोगों को अँगुली टखने का मौका मिले। इसी दृष्टि से प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'पंचवटी' का आलोचना करते हुए

लिखा है कि “भाभी-देवर-सम्बन्ध मैथिलीशरण गुप्त की कव्यगन दुर्बलताओं में से है।”^१

गुप्तजी के शृंगारचित्रण के सम्बन्ध में उनकी विशुद्धतावादिता को भी ध्यान से ओक्षल नहीं करना चाहिए। जब पहले-पहल गुप्तजी ने लेखनी उठाई तो ‘सुरारेस्तुतीयः पन्थाः’ के समान निरे शृंगारवादी कवियों की काफी छीछलेदर की। उनको यह देख कर महती ग्लानि हुई कि—

वद्देश कविता का प्रमुख शृंगार रस ही हो गया
उन्मत्त होकर मन हमारा अब इसी में खो गया।
कवि-कर्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ
यह धीररत्न भी स्मर-समरमें हो गया परिणत यहाँ ॥^२

शृंगारपरक ‘लिकछाकों’ की ओर भी संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि—

ये हैं नरक के दूत किंवा सूत हैं कलिराज के
ये मित्ररूपी शत्रु ही हैं देव और समाज के।^३

संगीत की भी दुर्गति देख कर उन्होंने ठंडी आह भरी और बोले—

संगीत में जब से मदन की मूर्ति भक्ति हो गई।
यह भावुकों की भण्डवाणी भी कलंकित हो गई ॥^४

१. देविये पृष्ठ १८।

२. भारत-भारती पृ० १२१।

३. भारत-भारती पृ० १२२।

४. भारत-भारती पृ० १२३।

अतः उन्होंने हमें आदेश दिया कि :—

अब तो विषय की ओर से मन की सुरति को फेर दो
जिस ओर गति हो सयम की वस ओर मति को फेर दो ।
गाया बहुत कुछ राग तुमने योग और वियोग का
सञ्चार कर दो अब यहाँ उत्साह का, वधोग का ॥^१

पाठक जानते हैं कि उत्तरोत्तर प्रतिभा के विकास के साथ गुप्तजी श्रृंगार के विरुद्ध इस उम्र भावना को निचह नहीं सके; और नहीं निबाहना । उनकी प्रतिभा के विकास में बाधक हुआ । पर फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि गुप्तजी का श्रृंगार संयत श्रृंगार है, वशम नहीं । इस सम्बन्ध में उनकी तुलना तुलसी से कर सकते हैं । तुलसी ने श्रृंगारिक परिस्थितियों के विवर्ण में बड़ी ही सूक्ष्म एवं सौम्य सुलझ से काम लिया है, यथा निम्नांकित पंक्तियों में :—

बहुति पदन-विभु भंचल हाँरी
पियतनु चित्त दृष्टि करि याँकी
रांजन-मम्लु तिरौटे नैननि
निजपति तिनहि कहाँ सिम सैननि ।

१. मारन भारती पृ० १७१ ।

गुप्तजी कीजिए रागर की लारने —

गुनहगार वो छूट जावेंगे सारे
जड़नुम बो भर देंगे रागर हगारे ॥

सबो प्रकार पक पायालय बनि ने भी लिखा है :—

O Gracious God ! how far have we
Profaned thy heavenly gift of poetry.

गुप्तजी ने भी प्रायः शृङ्गारिक वर्णनों को कच, कुच, कटाशों की 'नम-माधुरी' से बचाए रक्खा है। सूक्ष्म तथा सफल शृङ्गारिक वर्णन वे ही समझे जाने चाहियें जो चुपके से हमारी सुप्त सौन्दर्यभावना को सजग कर दें, और सो, भी उतनी ही दूर तक, जिसमें बड़ वासना के आँगन में पैर न रखने पावे। स्थूल ऐन्द्रियिक परिस्थितियों के सहारे शृङ्गार का जो उद्भावन होगा उसे उचकोटि का नहीं कहा जा सकता। इसी कारण ललित कला को "मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण" कहा गया है^१। 'मानसिक दृष्टि' से सौन्दर्य की सूक्ष्मता की ओर भी संकेत है।

शृङ्गाररस की सूक्ष्मता पर विचार करते हुए हमें यह भी जान लेना चाहिये कि आलम्बन के प्रति कवि की अत्यधिक भक्तिभावना शृङ्गाररस के परिपाक में बाधक सिद्ध होती है। उदाहरणतः हम तुलसी के उन पदों को लें जिनमें जनकपुर के स्वयंवर के अवसर पर तरुणी सीता का वर्णन किया गया है।

सिय शोभा नहिं जाइ यत्नानी ।

जगदम्बिका रूप गुन सानी ॥

❀ ❀ ❀

जो छवि सुधा पयोनिधि होई ।

परम रूपमय कच्छप सोई ॥

सोमारजु मंदर सिंगारु ।

मथै पानि पंकज निज मारु ॥

यदि विधि अप्रति लक्षित जय, सुंदरता मुख मूढ ।

तदपि सकोत्र समेत काँउ, कहहिं सोय समनूढ ॥

चली संग लै मगी सपानी ।

गार्वात गीत मनोहर बानी ॥

मोह मचल तनु सुंदर मारी ।

जगज्जननि अनुलिख छवि मारी ॥

इन पद्यों में धोता के सौन्दर्य का वर्णन ग्यारह अक्षरों का पद्य है और प्रयोग भी ग्यारह अक्षरों का ही है; लेकिन तुलसी की मर्यादा ने 'जगद्विद्या' और 'जगज्जननि' पद्यों का प्रयोग करके मनो मनविचार व्यक्त कर दी है; मनो शृंगार की लहरियों बड़े रंग से झलझली और दीवली हुई आ कर दोनों छिनारों पर के शांत शिखरों से अचानक टकरा कर फैनिल एवं लत-विह्वल हो गई हैं। तुलसी की इन पदियों में ग्यारह अक्षरों के साथ उत्पन्न गया है। गुप्ती के 'साकेत' से भी इस प्रकार के लक्ष्य-वर्णन का कम से कम एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है:—

अचट पट कटि में सौम, कटोय मारी

मीना माना यी भाव मई धन धारे ।

अंजु हितकर थे कलम-मोषर पावन

जन-मानु मर्ममय कुशल बदन मन भावन ।

... ..

कंठ दैक कर कच उर रहे थे उनके

रक्त लक्षक से लहर रहे थे उनके ।

... ..

रुक्ने झुकने में ललित लंक लच जाती

पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती ॥ आदि'

इन पंक्तियों में सीता के शृङ्गार का इतना सजीव वर्णन करते हुए भी कवि अपनी धार्मिक भावुकता के आवेश में आकर 'सीतामाता' कहकर संबोधित करने का लोभ संवरण नहीं कर सका है। हमारा निजी विचार है कि यहाँ पर सीता का मातृस्वरूप अप्रासंगिक है और रस के परिपाक में बाधक है। कवि को राम की निगाहों से सीता को देखना था, न कि अपनी। और फिर यदि अपनी ही निगाहों से देखा, पुत्र बनकर, तो अंकुर-हितकर कलश-प्रयोधर एवं ललित लचोली लंक का वर्णन कहाँ तक भर्मादित माना जायगा—यह विचारणीय है।

२. चरित्र-चित्रण:—गुप्तजी के कव्यों के सभी चरित्रों की आलोचना न तो अपेक्ष्य है और न इस वक्तव्य की सीमित परिधि में सम्भव ही है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के मुद्दांश में भिन्न भिन्न पात्रों के चरित्रगत काव्य पर विचार करते हुए यथावसर उनके चरित्र की सामूहिक समीक्षा भी की गई है। इस प्रसंग में दो बार ऐसी परिस्थितियों की ओर निर्देश किया जायगा जिसमें हम कवि के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का परिचय पा सकें, क्योंकि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही चरित्र-चित्रण के प्राण हैं। 'साकेत' के एकादश सर्ग के आरम्भ में कवि भारत के अनूठे तपस्विवेश का वर्णन करते हुए लिखता है—

बायीं ओर घनुष की शोभा, दायीं ओर निर्पंग-छटा ।

बाम पाणि में प्रत्यज्ञा है, पर दक्षिण में एक जडा^१ ।

१. साकेत पृ० २०४-२०५ ।

२. साकेत पृ० ३७१ ।

फिर क्रमशः प्रत-निरत मांडवी आती है। भरत और मांडवी परस्पर संयुक्त होते हुए भी प्रतनिष्ठा के कारण विभुक्त हैं। तपस्विनी मांडवी तपस्वी मरन के पास आती है।

उठ घीरे, प्रिय-निष्ठ पहुँच कर उसने उन्हें प्रणाम किया।

क्योंकि उन्होंने, सँभल 'रचस्ति' कहा, उसे उचित सम्मान दिया।

“जटा और प्रत्यक्षा की उस तुलना का क्या फल निश्चला ?”

हँसने की चेष्टा करके भी हा ! रो पड़ी बहू बिछला ॥^१

इस अन्तिम पंक्ति में कवि ने उलझन-जटिल परिस्थिति का एक संसार ही खन कर दिया है; हास्य और रुदन की दो परस्पर विरोधी मनोवृत्तियों की विचित्र गंगा-जमुनी की प्रवाहित कर दी है। मांडवी के हृदय में मरन की वीर शान्त संवृत्ति ऊटक वेशभूषा पर परिहास का मनोवैग धाते धाते ठिठक जाता है, क्योंकि वह अर्कुरित भी नहीं होने पाता है कि मांडवी और उसके परिवार की दयनीय परिस्थिति की विफलता उसका गला घोट देती है। इस प्रसंग में करुण और हास्य, ये दोनों रस आपस में गुंथ गए हैं, पाँव और गद्गार के पुट ने इस मनोवैज्ञानिक गोरखचर्चे को और भी पेनीदा बना दिया है। शान्त अन्नर्धार के रूप में करुण का पोखर है, गद्गार हास्य का।

विद्यम मनोभावों के सफल समन्वय का एक दूसरा उदाहरण हम 'यशो-धरा' के उस प्रसंग में पाते हैं जिसमें पति के त्रियोग से विकल यशोधरा की आँखों से अनन्यास ही आँसू तुलक पड़ने हैं, किन्तु इस वेदना के वेग को वह

इस कारण कुंठित करना चाहती है कि उसके पुत्र के हृदय-दर्पण पर उसके आँसुओं की मलिन छाया न अंकित हो जाय । वह रोते रोते हँस देती है । इस हँसी के द्वारा वह भले ही अपने हृदय पर क्षणिक विजय प्राप्त करते, लेकिन उसके आँसू उसकी पराजय का इजहार कर ही देते हैं । रहीम ने क्या ही सुन्दर कहा है—

रहिमन आँसुवा नैन डरि, जिय दुख प्रकट करेइ ।

जाको घर ते काढ़िये, क्यों न भेद कहि बैइ ॥

विजय और पराजय, आँसू और मुस्कान के इस संघर्ष-सम्पर्क को कवि ने जिस क्लारमयता के साथ व्यञ्जित किया है वह मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से प्रशंसनीय है । यशोधरा स्वयं कहती है—

रोना माना यस यही जीवन के दो भंग ।

एक संग में ले रही दोनों का रस-रंग ॥^१

विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की दृष्टि से, सामूहिक रूप में, हम 'यशोधरा' को 'साकेत' से मूर्धन्य मान सकते हैं, क्योंकि हम आरम्भ से ही उसकी मुद्दपात्री यशोधरा के जीवन में उम अन्तर्द्वंद्व पाते हैं । अपने पति के लिये उसे दम्भ भी है, उपालम्भ भी है ; वह गर्वोन्नता मनस्विनी भी है, पति-परायणा तपस्विनी भी है, उसमें आत्मभिमान की भी प्रश्रुति है, धारमदान की भी ; इसके अतिरिक्त उसके मानृत्व तथा पत्नीत्व ॥ भी परस्पर प्रतिस्पर्धा है और काव्य का मुख्यांश इसी के सूक्ष्म प्रतिपादन में प्रेरित हुआ है । 'यशोधरा' का सिद्धार्थ भी 'साकेत' के राम से कहीं अधिक मानव

है। वह अपनी पत्नी की आलोचनाओं का भागी होता है, किन्तु राम भगवान् हैं, भगवान् के अवतार हैं, आलोचनाओं से परे। जितनी ज़ुल्मी हम सिद्धार्थ से अपना तादाम्यसम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं उतनी राम हैं नहीं। माइकेल मयुसूदन दत्त के विषय में यह कहा गया है कि उन्होंने मेघनाद के चरित्र-चित्रण में दानव को मानव बना दिया है। उगी प्रद्यार गुप्तजी के संबंध में भी यह सचते हैं कि उन्होंने मानव को अतिमानव बना दिया है। 'साक्षेत्' के लक्ष्मण भी परम्परागत लक्ष्मण के समान उग्र प्रकृति के हैं, किन्तु वहीं वहीं उनकी उग्रता का जो चित्र गुप्तजी ने प्रस्तुत किया है उसे गले के नीचे उतारने में शिस्तही होती है। यथा-कैचेली की ओर ईगित करते हुए लक्ष्मण के ये वचन—

रखी है माँ, यनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह।

... ..
बने हम दस्युजा के दाम हैं जो
हमी से दे रहे वनवास हैं जो। १

—इत्यादि।

हम प्रसंग की लक्ष्मण की सारी उल्लिखित अमर्यादित एवं अनगरिक सी बोलती हैं। शीलमन् और अभिजात व्यक्ति के क्रोध का आवेश भी शीलवत्ता और अभिजात्य की चहारदिवारी की निर्लज्जता के साथ नहीं नौप सकता।

इन कुछेक चरित्रों के सम्बन्ध में कुछेक प्रतिकूल आलोचनाओं का अवकाश है, और रहेगा—गुप्तजी के ही सम्बन्ध में नहीं अपितु प्रत्येक कवि के सम्बन्ध में। किन्तु इसका यह मतलब कभी नहीं कि इनके आधार पर हम कवि के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में उपेक्षाभाव का आधान करें। संभव है इन आलोचनाओं के मूल में व्यक्ति-विशेषकी विशिष्ट सौन्दर्यभावना ही काम करती हो, फिर भी आलोचना-संसार के लिए इनकी उपयोगिता निर्विवाद है। कवि के गुणावगुणों के निदर्शन के अतिरिक्त भी आलोचना का एक महत्त्व लक्ष्य है—विदलेयणात्मक बुद्धि का उद्बोधन। संभव है एक निष्पक्ष आलोचक प्रथम लक्ष्य में भ्रान्ति का मारी हो, किन्तु फिर भी दूसरे लक्ष्य की पूर्ति में वह सहायक होगा ही।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में अपना सुश्लिष्ट वक्तव्य उपसंहृत करने के पूर्व हम पाठक का ध्यान गुप्तजी की कला की दो विशेषताओं की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। वे हैं—

(i) कथोपकथनों द्वारा चरित्र का विश्लेषण। ✓

(ii) हृदय के लम्बे उद्गारों द्वारा चरित्र का उद्घाटन। ✓ ,

दोनों ही विशेषताएँ पर्याप्त रूप में गुप्तजी की कृतियों में पाई जाती हैं। प्रथम का उदाहरण 'यशोधरा' का राहुल-यशोधरा-संवाद है, और द्वितीय का चित्रकूट में कैकयी का वह दीर्घ हृदयोद्गार^१ जिसमें उसकी आत्मा मानों अनुताप के ताप में गल कर कविता की क्यारियों में लुढ़क पड़ी है।

३. भावस्थितियों की चित्रवत्ता:—चित्रवत् अंकन भावोद्घावन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यहाँ भावस्थितियों से तात्पर्य हृदयगत भावनाओं को

अभिव्यक्त भावमयिणी से है। कभी कभी कोई कलाकार किसी परिस्थिति-विशेष की भावमयिणी पर मुग्ध होकर जब तक उन्हें एक एक कर करने पाठकों के मानसपटल पर मुद्रित नहीं कर देता, जब तक उसे सन्तुष्टि हो नहीं होती। संभवतः इसी बात की ध्यान में रखते हुए हमारे साहित्यकारों ने 'स्वभाविक' को अलंकारों में गिना था। यह आवश्यक नहीं है कि सौन्दर्य की कल्पना का नमक मिर्च लगा कर ही रसिकों के सामने परोसा जाय। उसका रूपही विग्रह भी कलाकार ही के कृते ही प्राप्त है, जनसाधारण की नहीं। संभव है किसी फूल के सौन्दर्य को देखकर अकलाचार भी उसी तरह भवविभोर हो जाय जिस तरह एक कलाकार; पर अन्तर यही है कि अकलाचार की अनुभूति 'गूँसे का गुड़' है, किन्तु कलाकार अपनी अनुभूति को मनु के प्याले में परोस कर पाठकों को भी चट देता है। इतना ही नहीं, कलाकार कृत वस्तुस्थिति का विग्रह उस वस्तुस्थिति के प्रत्यक्ष करनेवाले सामान्य मनुष्य के लिये टीका-टिप्पणी का साथ देता है; उसे उसकी निजी सौन्दर्य भावना का सूक्ष्म विश्लेषण करने/बिछाता है; जानों उसकी गूँसी मानुषता की कवान दे देता है। उदाहरण के लिए हम कालिदास के निम्नलिखित श्लोक को लें—

श्रीवामंगामभिरामं सुहृत्पुत्रति स्मन्वने यद्वृष्टिः
यथाज्ञेन प्रविष्टः क्षापनमयाद्वयता पूर्वकायम् ।
दधैरर्पावलीदैः भ्रमविभूतमुत्तमशिशिः क्षीर्णवन्तौ
परमोदमभूतत्वाद्विपति बहुतरं स्तोत्रमुष्मां प्रयाति ॥ १

अथवा सूरदास से—

अरुओ री भेरो बालगोविंदा ।

अपने कर गहि गगन बतावत खेलन का माँगै चंदा ।

बासन के जठ धन्यो असोदा, हरि को आनि दिपावै

रदन करत हूँदै नहि पावत धरनि चंद क्यों आवै ।

इन कवियों ने बहुत ही साधारण वस्तुस्थितियों का चित्रण किया है, जिनका अनुभव कोई भी शिकारी और सामान्य व्यक्ति नित्यश्रुति करता है और कर सकता है। मृग की दौड़ तथा बचपन की केलिखीझ बिलकुल साधारण सी बात है और उसे देखकर किते आनन्द नहीं होता ? किन्तु आनन्द छटना और बात है, छुटाना और। वही व्यक्ति जिसने सतृष्ण नेत्रों से मृग को दौड़ते देखा है अथवा बालमुलभ लीला से आनन्द उठया है—वही व्यक्ति जब कविकृत मृगवर्णन और बालवर्णन को पढ़ता है, तो, जो दृश्य केवल धुँधले और सामूहिक रूप से उसके मानसपटल पर अंकित था वह स्पष्टतर और विदिलष्ट रूप में अंकित हो जाता है ; अथवा जो दृश्य साधारण अथवा दिन दिन होने के कारण दुर्लभ जान पड़ता था वही बलाकार की देखनी से जीवित होकर 'अमित तोय' उपमाने में समर्थ होता है।

वस्तुस्थितियों और मनस्थितियों के विस्तृत एवं जीवित वर्णनों से गुप्तजी के काव्य भरे पड़े हैं। प्रस्तुत पुस्तक में कई के विषय में चर्चा हुई है; यहां केवल दो चार की ओर संकेत करना पर्याप्त होगा। यथा—'साकेत' के प्रथम सर्ग में उर्मिला का वर्णन सुन्दरी उर्मिला को मानों हमारे सामने लाकर खड़ा कर देता है।

अरुण घट पहने हुए आह्लाद में
कोन बढ़ चला छोड़ी आस्ताद में
..

१ स्वर्ग का वह सुमन धरती पर खिला
माम है इसका उचित ही 'वर्मिला'।^१

वर्मिला की ही शैशवेय में प्रत्यक्ष कीजिये—

आ वासुम समीप रकी लक्ष्मण की रानी
मकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी !

X X X X X

जटाझाल से घाल विलम्बित छूट पड़े थे
आनन पर सी अरुण, घटा में फूट पड़े थे ।

माथे का सिन्दूर सज्जन भोगार-सद्गुन या
प्रथमातप-सा पुष्पगात्र, वधपि वह कृश था ।

चापों कर वासुम-शृङ्ख पर कण्ठ निकट था

दाढ़ कर में स्थल किरण-सा झूल विरल था ॥^२ आदि ।

'भारतभारती' में भी वस्तुस्थितियों के संक्षिप्त किन्तु सज्ज विग्रह अनेकों
भरे मिलेंगे । यथा रईसों के वर्णन में—

हनकी समा 'इन्दर-समा है', इन्द्र दनरों लेख को

वह पूर्ण परिचों का अस्त्राङ्ग भाग्य हो तो देख ले ।

१. मरकेत पृ० ११-१२ ।

२. " " ४२५ ।

हाँ नाच भोग विलास हित इनका भरा भण्डार है
 धिक् धिक् पुकार सुदृग भी देता उन्हें धिक्कार है ।
 वे जागने हैं रात भर, दिन भर पड़े सोवें न क्यों ?
 है काम से ही काम उनको, दूसरे रोवें न क्यों ? १

अन्य रचनाओं से उद्धरणों की संख्या न बढ़कर इतना हो कह देना
 प्पेष्ट होगा कि कवि की कलम जहाँ और जिस परिमाण में खादती है, वहाँ
 और उस परिमाण में वर्णनीय वस्तुस्थितियों एवं मनस्थितियों के जीवित-
 नाप्रत मूर्तिमार् चित्र पाठकों के मानसचक्षुओं के सामने प्रस्तुत कर देती है।
 ये चित्र प्रतिपाद्यभावों के पृष्ठाधार अथवा प्रतिमूर्ति बनकर उनकी छिप्पणियों
 बन जाते हैं और उनके वैद्य में सहायक होते हैं।

४. कल्पना का अर्थ—कल्पना (Imagination) ही कवि अथवा
 कलाकार की विशेषता है। उसकी प्रत्येक सृष्टि में आदर्शवाद और यथार्थवाद
 दोनों अनविच्छेद रूप से मिले रहते हैं। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' अथवा 'सेवा-
 सदन' की समग्र रूप में भले ही हम संसार की सतह पर न पा सकें, किन्तु
 इसका यह मतलब नहीं कि ये अस्तित्व भी अनुपलब्ध हैं। यथार्थ घटनाओं
 की ही कलाकार उनके देश, काल, यात्र की सीमाओं से विच्छिन्न करके उन्हें
 सार्वभौम एवं सार्वकालिक रूप दे दिया करता है। इस 'साधारणीकरण' के
 लिये जिस मानसिक शक्ति की उसे अपेक्षा होती है, उसका नाम है कल्पना।
 कला के लिये कल्पना अनिवार्य है। मान लीजिये कि आपको धरती प्रति-
 चित्र (फोटो) चाहिये। आप फोटोग्राफर की स्टूडियो में जाते हैं। वहाँ

देखेंगे कि वह आपका फोटो लेने के पहले आपकी वेशभूषा, आकृति, चेष्टा-सबों में कुछ परिष्कार करेगा; फिर आपको फूलों के गमलों के बीच में रख कर आपके लिये एक सुन्दर पृष्ठभूमि (background) तैयार कर देगा। जब आप उसकी नजर में आँच आयेंगे, तब वह आपका फोटो उतार लेगा। आप अपना फोटो देखकर संभवतः आपही मुग्ध हो आयेंगे। इसका कारण यह है कि आपकी यथार्थता के साथ फोटोग्राफर का आदर्श भी मिल गया है, और यथार्थवाद तथा आदर्शवाद के इस सम्मेलन ने आपकी शीशुई कर दी है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुस्थिति को सुन्दर एवं सुन्दरतर रूप में प्रस्तुत करने के लिए उस पर कल्पना की कूची पेरना अनिवार्य हो जाता है। कल्पना ही आदर्शवाद की अनुभूति है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि गुप्तजी के काव्यों का कोई पात्र ऐसा नहीं जो सर्वतोभावेन यथार्थ हो। जयद्रथ, अर्जुन, अभिमन्यु, उत्तरा, कीचक, द्रौपदी, सिद्धराज, यशोधरा, राहुक, मांडवी, तर्मिला—कोई भी चरित्र ऐसा नहीं है जिसके चित्रण में कवि ने मनगढ़ंत बातें नहीं लिखी हों। वस्तुतः, यदि कल्पना न हो, तो बहुत से महाकाव्यों को इतिहास की संज्ञा देनी होगी। अरस्तू ने इतिहास और काव्य की परस्पर मिश्रता पर विचारते हुए लिखा है कि ज्यों का त्यों घटनाक्रम का वर्णन कवि-वर्म नहीं है; उसे तो उसकी सार्वभौमता का बाना पहनाना पड़ता है; इतिहास का संबन्ध विशिष्ट से है, काव्य का सामान्य से; केवल छन्दोबद्ध कर देने से ही इतिहासकाव्य नहीं बन जाता।^१

१. It is not the function of the poet to relate what has happened, but what may happen.... The work of

एक दूसरे प्रसंग में अरस्तू ने कविता को "कुशलता के साथ एक दोहरे की कला" कहा है।^१ इसमें सन्देह नहीं कि यह कला कवयिता का ही नामान्तर है। कवि को 'स्वयंगू' भी ऐसीलिये कहा गया है कि वह अपनी गई छवि कवयिता के आधार पर राखी दिया करता है।^२

शाब्दिक रूप से कवियों अपना कथानकों के सुजन में कवना का जो महत्त्वपूर्ण भग्न रहता है उसे समस्त लेखों के बन्धन-उपके द्वारा पद्य-संस्कारों में जो सौन्दर्यवैधान होता है उस पर भी कुछ बिचार कर लेना अप्रसंगिक न होगा। कवि पद्य का जो दिखाने की शक्तिशाली का विचार हमारे आचार्यों ने किया है वह कवियों की तरह में 'बकोपि' अपना अत्युक्ति है। किसी कवयिता को पद्य का महत्त्व का निमित्त के साथ सन्तुष्टि करने रचना 'बकोपि' है;^३

Herodotus might be put into verse, and it would still be a species of history, with metre no less than without it... Poetry tends to express the universal, history the particular.

The Poetics of Aristotle (Ed. S. H. Ditcher) p. 35.

१. It is Homer who has chiefly taught other poets the art of telling lies skilfully.

The Poetics of Aristotle, P. 35.

२. कवना के कवियों के अन्तर्गत्त में 'बकोपि' का 'कवयिता' की 'कवयिता'—पृ. १०।

३. कवयिता कुशल के लिये कवियों की ही कवयिता की कवयिता है। 'कवयिता' में कवयिता।

हृदये बड़ा चढ़ा कर कहना धी-धुकि है । दशहरणतः सार को विष्णु भगवान्
से यह निवेदन करना है कि वे बहुत बड़े पापी हैं । किन्तु सीने काटे ऐसा
न बहकर ये लिखते हैं—

ओ गिरिराजि ममि घोरि उदधि में,
है सुगन्ध निज हाथ ।
मन हन शेष हिनै वसुधा नरि,
तऊ नहीं मित्रि नाथ ॥

अथवा विपत्ति—

सुरति पाए लोचन मोगलों
गङ्गा मोगलों पानि ।
बन्द क बंदन मैं हेन्धि आगलों
मन मनोरथ राखि ॥

ऐसे पद्यों में कवे अपनी कल्पना के उत्कर्ष से साधारण से साधारण
वाक्यों में भी अद्भुत चमत्कार का समवेश कर देता है ।

गुप्तजी के कान्यों में लुप्त कनका के लुप्त नमूने भी मरे पड़े हैं ।
यथा, उद्धृत करता है—

गिरा-मनार यदि अम्ब, एवं पाता मैं
एकही ज्ञान में तो कैसा चढ़ जाता मैं ।
मंडल बनाकर मैं धूमता गगन में
और देव ऐसा गिरा बैठे किम बन में ।

किन्तु जिना बंगों के रिचार सर होते हैं

हय ! पक्षियों से भी मनुष्य गण-धीने हैं ।^१

अहाँ निर्जीव प्राकृतिक पदार्थों का सजीवन् वर्णन किया जाता है वहाँ भी कल्पनोत्कर्षका परिचय मिलता है। कल्पना ही मानों श्राव बनकर निर्जीव पदार्थों में पैठ जाती है; उनके पदार्थ में शिल बनकर कूक टछती है। 'साकेत' का नवम सर्ग पद पद पर कल्पना की इस कूक अवस्य कूक के उदाहरण प्रस्तुत करता है। क्या—

आ जा, मेरी निदिपा गुँगी !

भा ! मैं मिर बाँलों पर लेखर खन्द गिखीना दूँगी !

... ..

पलक-मोखड़ों पर पद ऐत तू

तनिक सझीना हम भी खय तू

भा, दुनिया की ओर निरख तू

मैं न्योटावर हूँगी ।

आजा, मेरी निदिपा गुँगी ॥^२

—इत पक्षियों में नींद को सहेली मानकर उससे हृदय की बातें बहो गई हैं ।

कल्पना का उत्कर्ष कविता का उत्कर्ष है । गुप्तजी के कुछ प्राथमिक श्रवण

१. कोष्ठा १० ७६ ।

२. साकेत १० २६७ ।

पीछे के जातीयता तथा सांप्रदायिकता से संबन्ध रखनेवाले काव्यों में कल्पना का अभाव अवश्य है। उदाहरणतः—

दुरे काटते हैं जो नार
होते हैं बहुधा सविहार ।^१

अथवा—

अब भी हो तुन कृपियधान
गोबर का तो रखो ज्ञान ।^२

किन्तु ये काव्य तत्त्वतः काव्य न होकर छन्दोबद्ध उपदेश-से हैं; उप-
व्योगितावाद ने इन पंक्तियों का गला घोट रक्खा है। अतः इनमें कल्पना-
जन्य माधुर्य कहाँ है? वस्तुतः तथ्य यह है कि कोई भी कविता हो, उसमें बुद्धि-
तत्त्व और रागात्मक तत्त्व-होगे दोनों ही; किन्तु कविता के लिये आवश्यक है
कि रागात्मक तत्त्व की प्रधानता बनी रहे। जहाँ बुद्धितत्त्व की विजय-वैज-
यन्ती रागात्मक तत्त्व की अशक्तियों पर फहराने लगेगी, वहाँ काव्यत्व का
हास होना अनिवार्य है।

(३) भाषा सौष्टव.—काव्यगुणों में हमारे आचार्यों ने प्रसाद, शोज
और माधुर्य को गिनाया है। इनमें शोज और माधुर्य का संबंध दीर्घ शृंगार
आदि रसविशेष अथवा प्रसंगविशेष से है; किन्तु प्रसादगुण की उपादेयता
सर्वदा और सर्वथा है। गुप्तजी की भाषा प्रसाद एवं प्राञ्जलता के लिए प्रसिद्ध
है। उन्होंने कभी भी भाषा को क्लिष्ट बनाकर अपनी पुष्पली घाक जमने
की मनोरंजिता अपने में नहीं आने दी। यह भी गुप्तजी की ख्याति का एक

१. हिन्दू ५० १३४।

२. हिन्दू ५० १३१।

कारण रहा है और उन्हें "सर्वसाधारण के कवि" ^१ बनाने में सहायक हुआ है। खामोसाह अलंकारों को ठूँसने की चेष्टा भी कवि ने कहीं नहीं की है। भावों के प्रवाह में उन्हें सजाने-सँवारने आगए सो आगए; जान बूझ कर, उन्हें पिरोने का प्रयास नहीं किया गया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार यत्र तत्र सर्वत्र आ चुके हैं; विस्तारमय से उनके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं। किन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि गुप्तजी की प्राथमिक रचनाओं में अर्थान्तरन्यास, निदर्शना और दृष्टान्त का बाहुल्य मिलता है। इसका मुख्य कारण है उनकी उपदेशप्रवणता। उदाहरण—

जिस छेतनी ने है छितरा उत्कर्ष भारतवर्ष का
छिताने चली अथ हाल यह उसके अमित अपरुष का ।
जो फोकिला नन्दन विपिन में, प्रेम से शास्त्री रही
दावाग्नि-दग्धधारण्य में रोने चली है अथ यही ।^२

अथवा

संसार में किसका समय है एक-सा रहता सदा
है निशि-दिवा-सी हूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा,
जो आज एक अनाथ है बरनाथ होता फल यही
जो आज उत्सन-अग्न है फल शोक से रोता यही ।^३

१. शान्तिप्रिय त्रिवेदी—हमारे साहित्यनिर्माता ५० पृ. ८३ ।

२. भारत-भारती ५० पृ. ८५ ।

३. भारत भरती ६० पृ. १ ।

अनुशासिदि सम्बलंकारों की छटा प्रायः सर्वत्र दीख पड़ती है; तुकों में तो कहीं कहीं औचित्य की सीमा भी उल्लंघित कर दी जाती है। जहाँतहाँ श्लेष का भी संश्लेष हुआ है। पर ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। एक, 'मधो-धरा' से—

भाली, यही बात हुई, भय जिमका था मुझे
मानती हूँ वनको गहन-वन-शामी में
ध्यान-मग्न देख उन्हें एक दिन मैंने कहा —
'क्यों जी, प्राणयज्ञ कहेँ या तुम्हें स्वामी मैं ?'
चौक कुछ ललित-से, चोले हैंस आपं पुन —
'योगेश्वर क्यों न होऊँ, गोपेश्वर नामी मैं !
किन्तु चिन्ता छोड़े, किसी भग्न का चिन्ता करूँ
तो हूँ ज्वार पीछे शिवे' पड़के हूँ फामी मैं' । १

—इस पद्य में अपोरेखाक्ति पदों में दो दो अर्थ छिपे हुए हैं, जिनके उद्घाटन में कहीं कहीं मिलटकरना की अपेक्षा होती है। प्रसादगुणोपेत श्लेष का भी एक उदाहरण, 'सिद्धराज' से:—

"देसा हृद एक सुना मैंने आपके यहाँ
जो भी गिरे वनमें सलोना बन जाता है
भट्ट है।" राजा मुमकाया भीर बोला "हाँ"
"मधुर रहेगी तू यहाँ भी !" कहा भट ने । २

१. यशोधरा पृ० २० ।

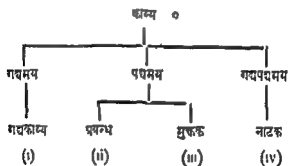
२. सिद्धराज पृ० ६६ ।

इस पद्य में विरोधाभास का भी सुन्दर चमत्कार है ।

भाषा-शालित्य के संबंध में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि गुप्तजी की शारंगिक कृतियों में समता और कर्णकटुता दीस पड़ती है; किन्तु प्रमदाः रचनाम्बोधि की धुम्धता मंद पड़ जाती है, और ललित ललित पदावलियों की सोल सोल लहरियाँ भावों के मन्द मन्द मलयानिल के झले पर झल झल कर नाचने लगती हैं । 'यशोधरा', 'सिद्धराज' और 'साकेत'—ये तीन हिन्दी के हृदयहार के हृदयहारी होते हैं ।

(४) रचना-शैली—

रचना-शैली की दृष्टि से काव्य का विभाजन निम्न-प्रकार से किया जा सकता है:—



इनमें विशिष्ट शैली के रूप में गुप्तजी ने कोई गद्यकाव्य नहीं लिखा था। रहे तीन—प्रबन्ध, मुक्तक और नाटक । इनके अन्तर्गत आनेवाली रचनाओं के परिज्ञान के लिये निम्नलिखित तालिका^१ पर्याप्त होगी ।

१. अनुवादों की चर्चा मौलिक न होने के कारण अनावश्यक है ।

प्रबन्ध	मुखक	नाटक
रंग में रंग	भारत भारती	गन्तहास
जयदशवध	मंगलघट	तिलोत्तमा
राकुन्तला	पत्रवल्ली	अनप
पंचवटी	वैतालिक	
गैरधौ	स्वदेश संगीत	
बन्धुभव	हिन्दू	
बकस्यहार	संचार	
द्विहान		
विहङ्गमट		
गुरङ्गल		
ठापर		
बशापर		
सावेत		
गहप		

प्रबन्ध और मुखक, दोनों भव्य काव्य हैं; नाटक, दृश्य है। प्रबन्ध किसी कथानक का सामूहिक एवं शृङ्खलाबद्ध चित्र प्रस्तुत करता है, मुखक किसी वस्तुस्थिति जयवा मनस्थिति का स्पष्ट चित्र मात्र। नाटक प्रबन्ध के ही समान किसी कथानक का आधार लेकर चलता है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य होता है पात्रों के कथोपकथन द्वारा उनके चरित्रों का निरूपण। मुखक का गीतिप्रधान (Lyrical) होना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि—क्या गुप्तजी ने अपनी रचनाओं में इन भेदों को स्पष्टरूप से व्यक्त करने की चेष्टा की है? उत्तर होगा—‘नहीं’। सामान्यतः

इस भेदों का प्रतिनिधित्व करती हुई भी उनकी रचनाएँ अपने व्यक्तित्व और मौलिकता की छाप लिए हुई हैं। 'द्वार' और 'गुच्छ' स्पष्ट भी हैं, प्रबन्ध भी हैं। 'यशोधरा' तो इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। यमि ने इस रचना के 'शुल्क' में भाई 'बिचाराभरण' से एक पंक्ति की कहानी कहकर फिर उसपर टिप्पणी के रूप में कहा है—'कहानी तुम्हें उची हो या नहीं, परन्तु मेरी शक्ति का विचार किये बिना ही मुझ से ऐसे ही अनुशेष किया करते हो। कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी बात है। सो कविता, सो गीत, सो नाटक और सो गद्य पद्य नुबन्त अनुबन्त समो कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।' वे पंक्तियाँ ठीक ठीक यशोधरा की शैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। कवि के हाथों 'यशोधरा'—जैसी 'लिवली' के पवाए जाने का यही अभिप्राय होता है कि कवि अपनी शैली के लिए हाँसते हैं, वह रामोराह दक्षिणायनी आचार्यों की परिभाषा की मुहर लगाकर अपनी कविता का रूप नहीं सँवारना चाहता; उसे तो अपनी निजी सौन्दर्यभावना पर खरब है; वह अपना यात ही कलम की क्षमा बनकर उसे संभेट भागों में श्रेष्ठ करेगी,—समतल में भी, विषमतल में भी; क्यारियों में भी, फेंकरीली पगड़ियों पर भी। शैली की मनोनीतता और मौलिकता भी गुप्तजी के नवयुग की यशानुभूति अर्जित करने में सहायक हुई है।

इसके शक्तिरिक्त कवि की शैली की निम्नलिखित विशेषताओं पर भी ध्यान देना चाहिए:—

(क) ललित पदावली और भवानुरूप भाषा।

। 'शारदाम' 'भूमि' 'भरण' आदि पदों के लिए 'शुल्क' आदि का प्रयोग कवि की मौलिकता का प्रमाण है।

(ख) छन्दों का वैविध्य ।

(ग) संगीतमयता और नुक्तान्तता—“सिद्धराज” की विशेषता ।

(घ) व्यंग्यात्मक हास्य-शैली (Satire) ।

(ङ) कथोपकथन की कलात्मकता ।

(क) ललितपदावली और भावानुरूप भाषा:—यह पहले ही कहा जा चुका है कि कवि की प्रतिमा ज्यों ज्यों अग्रसर होती गई है त्यों त्यों पदाव-
लियों भी ऐक्य-मेषल होती गई हैं ।

भावानुरूप भाषा के एकत्र उदाहरण पर्योक्त होंगे ।

सन्धि ! निरग्न नदी की धारा

ढलमल ढलमल बंधल भंधल, झलमल झलमल तारा ।

निर्मल जुल अन्वसल भरके

बडल डडल कर, छल छल करके

धल धल सरके, कल कल सरके

धिगराना है पारा !^१

इन पंक्तियों को पढ़ने में ऐसा मालूम होता है मानों नदी की धारा कल-
कल छल-छल करती हुई इन्दी में टुकट पड़ी है ।

अन्यत्र—

बापा तो यही है, मुझे बापा नहीं कोई भी

विग्र भी यही है, वहाँ जाने में जगत् में ।

... ..

... ..

मर में धिरी का हुआ ! कोई कती जाता हो,
तो मुझे बना दे हा ! बना दे हा ! बना दे हा ! (सूझा)'

इस पंक्तियों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होने लगता है मनों भावना की
गहरी बड़ी तेज रफ्तार में चली हुई, न स्टेशनों पर रुकती, न घुमावों पर
हँले हँले मुकती, अचानक अपनी पट्टी में उतर पड़ती है और दण्ड कर
बहनाचूर हो जाती है। मजिनी यशोवरा की मनोवृत्ति को भी उस समय
कुछ ऐसा ही हालत थी।

(४) छन्दों का वैविध्य—गुप्तजी ने मारिक और बगिक दोनों तरह
के छन्दों का प्रयोग किया है—पीयूषवर्ष, ग्यार, मुमंर, हकलि, पादाङ्गक,
छोरछ, घनाशरी, सवेया, धायाँ, गीति, शार्दूलविभीषित, सिखरिणी, मलिनी,
द्वन्द्विजम्बुत आदि। किन्तु बगिक छत्तों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही कम
है। हिन्दी की विशिष्टतात्मक प्रतीमा का ध्यान में रखते हुए ऐसा होना उचित
भी है।^१ 'साकेत' के नवम सर्ग के पद पद पर परिवर्तित होनेवाले छन्दों का
मनोवैज्ञानिक आधार है उर्मिय की विशिष्ट मानसिक दृष्टि। इस प्रकार अने-
कानों में छन्दों और मनोभावनाओं का मार्मिकत्व दिखाया जा सकता है।

१. कोसा पृ० १७१-८०।

२. छन्दों के साथ हिन्दी भाषा की विशिष्टतात्मक प्रतीमा के सामंजस्य के वि-
में देखिये लेखक-इन 'महाविद्वत् हिन्दी का विकास' पृ० २६-३२।

३. 'साकेत' की छन्द-बोधिता के सम्बन्ध में देखिये 'साकेतः एक अध्ययन'
पृ० २४७-४३।

(ग) संगीतमयता और मुकान्तता:—‘गिदराज’ की विशेषता:—

पद्य का प्राण संगीत है। संगीत के वर्णन हैं—

- (१) छन्दों का सय और ताल ।
- (११) कोमल पदावली ।
- (१११) चरणों की आकृति ।
- (११११) मध्यनुशास ।
- (१११११) अन्यानुशास यथा मुक्त ।^१

शुनजी ने इन सभी लक्षणों का प्रचुर रूप में उपयोग किया है, और सामूहिक रूप से संगत । किन्तु यहाँ कहीं उनकी पद योजनाएँ ऐसी भी हो जाती हैं जिनसे यह भाग होने लगता है मानी कुछ मुक्त-मिल शब्द पहले से ही कागज पर लिख लिए गए हों और उनकी खामोखाह पंक्तियों में पेबन्द की तरह जड़ने की चेष्टा की गई हो । नगेन्द्र ने तो यहाँ तक कह डाला है कि “यह स्वीकृत बात है कि लख भाषा के उदाहरण ‘ग़ज़ल’ के बराबर अन्यत्र मिलना कठिन है।.....एक ओर मुक्त यदि उसकी भाषा की शक्ति है तो दूसरी ओर उसके लक्षण, मती, अलंकार-दोष आदि का भी मूल कारण है । उसके बसीभूत होकर कवि स्थान स्थान पर अरने ऊँचे स्टैंडर्ड से गिर गया है । ‘साकेत’—जैसे काव्य में उपमोचितलनी, तत्ती, रती, लखी, मत्री, लगी आदि का प्रयोग मुक्त की ही वृत्त का फल है” ।^२ मुक्तों की वेबुकी व्यवस्थिति के एक दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. इस प्रसंग में देखिये लेखक-संज्ञा ‘महाकवि इंग्लिश का दिनपत्र’ पृ० २४-२२।

२. साकेत. एक कथान पृ० २४१-८२ ।

फिर याद पड़े टटके-टटके
 ब्रजगोपवधू दधि के मटके
 रनका कहना—हटके ! हटके !
 बलझी-सुलझी लटके लटके

नटनागर आज कहाँ भटके ! १

वही प्रकार 'यशोधरा' में जब हम एक के बाद एक—

चला गया रे, चला गया !
 छला गया रे, छला गया !
 दला गया रे, दला गया !
 जला गया रे, जला गया !
 फला गया रे, फला गया !
 भला गया रे, भला गया ! २

—सुनते हैं, तो ऐसी प्रतीति होने लगती है मनों तुक की तरफ़ से बताने के लिये, सबको—तला गया रे, तला गया ! ✓

'यशोधरा' में न जाने क्यों कवि की तुकों से इतनी अधिक तबीयत लग गई है। एक उदाहरण और—

बाहर से क्या जोड़ूँ जाड़ूँ
 मैं अपना ही पला छाड़ूँ
 तब है, जब वे दाँत उखाड़ूँ

१. संस्कार पृ० ५१ ।

२. यशोधरा पृ० २६ ३० ।

रह, भयसागर नर !

धूम रहा है कैसा चर !^१

तुलू और पदमेशी की दृष्टि से 'सिद्धरान' कवि की दृष्टियों में मध्यम मणि के समान गौरव पायगा। यही उसका एक मात्र अतुल्य न्याय है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि अतुल्य हाते हुए भी इसमें संगीत की भारी मानवरत रूप में प्रवाहित हो रही है। अन्यानुशास के नियन्त्रण से मुक्त होकर कवि की पदमेशी कोमल कोमल सुरंग-शावकों के समान किलो करती हुई दीख पड़ती है— न नियम, न नियन्त्रण। कविता की सरिता में छन्दों के संगीत की स्वरलहरियों स्वच्छन्द रूप में अठखेलियाँ करती हुई रहिगोचर होती हैं।

मथा:—

हे क्या अधिभर हम जैसे लुंजपुजों का
घेठे मुंजराम के सुमंजु कीर्ति-कुंज में।^२

—X—

मानधनी सोरठ का मानधनी रावा था^३

—X—

वासना नहीं थी वहाँ उग्वल उपासना।^४

—X—

खिल उठती है मथा छतिका घसंत में
हँस दिउमरे वायु लहरी के सेती है

१. पगोपरा पृ० ३।

२. सिद्धरान पृ० ३४।

३. „ पृ० ५१।

४. „ पृ० ७४।

घोल नयुग्म्य डोल इधर गधर ल्यों

घोल उग्री वाला-“ओ दिवाली” ! कह आली से ' इत्यादि

ये उद्गरण केवल प्रतिनिधित्व ■ हृष्टि से दिये गये हैं। ऐसे पद-पद पर पदे पाए जायेंगे।

(७) प्यांशमरुद्वाचकशैली:- हास्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। हृष्टते प्रयोग में भी उच्चमन्य की समितोष आवश्यकता होती है। हास्य के प्रयोग में लेखक को निश्चिन्ता की परिधि से बाहर निकले जाने का प्रयत्न मिलना चाहता है, और भय यह होता है कि वह उलझा दिखाए न बन पाय। उदाहरणतः श्री० श्री० श्रीशस्तक के हास्य स्वयं-स्वयं पर आम्बुता-दोष दूषित होते हैं। 'दुबेगो' के संक्षेप में भी यह सम्झन कहीं कहीं लग सकता है। किन्तु शुभरी के हास्य मुक्ततः व्यंग्योक्तियों के रूपमें दोष रहते हैं; और ऐडिचन (Aitchison) अथवा दिक्केंस (Dickens) के समान उनकी लक्ष्य होना है समान सुधार। अधिष्ट हास्य शुभरी की प्रकृति के निरुद्ध है। ईश्वर प्रकृति के पात्रों का सृजन भी शुभरी की प्रतिभा के प्रति-फल है। जो तो आलोचकप्रमोदमय हास्य के मुख्यवी छीटे अथवा रंगमरी चित्रकारियों 'पंचकली', 'कलीपट' 'सावेत', 'सिद्धराज' आदि में जगह जगह पर मिलेंगी; पुस्तक के मुखवाक में उनकी ओर संकेत भी दिये गए हैं; किन्तु उनकी उद्घाटन नहीं अभिप्रेत नहीं है। इस प्रसंग में हम केवल व्यंग्यवाचक हास्य के एकत्र उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। यथा:-

भारतभारती से—

“हो आध सेर कमाय सुनको, एक सेर धाराय हो

मूरेंगहों की सल्लयत है, रूत हो कि सराय हो”

बहना मुगल-सम्राट का यह ठीक है अब भी यहा
राजा रईसों को प्रजा की है मला परवा कहां?¹

अथवा

क्या मर्द है हम बाहवा ! मुल-नेत्र पीले पड़ग
तन सूख कर कांटा हुआ , सर भंग दीले पड़ गण
मर्दानगी फिर भी हमारी देल लीजे कम नहीं—
ये गिनभिनाली मस्तिष्पों क्या भास्ते हैं हम नहीं !²

ध्यान्यात्मक हास्य की यह विशेषता है कि यह हमारे मन और कान-
दुर्गुणों को शर्करा का आवरण देकर हमारे सामने पेश करता है; और उ-
पर में उन्हें देखकर हमें क्षोभ नहीं होता । हम बिना नाक-भों सिकोड़े
बिना आत्मसंमान पर जोर का धुका दिये, उन्हें हृदयंगम करते हैं और
अपने को सुधारने को चेष्टा करते हैं ।

(८) कथोपकथन की कलात्मकता,—नगेन्द्र में 'संवाद' की बर्णना
करते हुए उसके तीन लक्ष्य बतलाए हैं ।

- (१) कथा की गति आगे बढ़ती है । , ,
- (११) चरित्र की गहन गुणियों झुलझती हैं । /
- (१११) वर्णन में प्राण आते हैं ।³ ✓

वस्तुतः ये तीनों लक्ष्य गुप्त जी के कथोपकथनों द्वारा सिद्ध होते हैं ।
पद्मवती का राम-लक्ष्मण-सीता दार्पणस्वा संवाद, 'साकेत' का चित्रकूट में राम-

१. भारतभास्नी १० १११ ।

२. „ १० १४४ ।

३. साकेत' ए.क. अभ्युपन १० १६८ ।

कैकयी-संवाद, 'यशोधरा' का माता-पुत्र-संवाद, 'जयद्रथवध' का शैबदी-कृष्ण-संवाद, 'सिद्धराज' का सिद्धराज-मदनवर्मा-संवाद आदि अनेक अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनकी सजीवता असंदिग्ध है। गुप्तजी का विरला ही ऐसा काव्य होगा जिसमें कथोपकथनों की भरमार न हो। इस कारण हमें उनके काव्यों में नाटकों का मजा मिलता है। यहाँ हम इन कथोपकथनों की दो विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे :-

(अ) आकस्मिक पूर्व-संकेत (Dramatic Irony) ।

(आ) कलात्मक आश्रितियों ।

(अ) आकस्मिक पूर्वसंकेत उन स्थलोंपर होते हैं जहाँ अज्ञान में कुछ ऐसे पद किसी पात्र के मुँह से निकल पड़ते हैं जो उन प्रसंगों में तो कोई व्यापक महत्त्व नहीं रखते किन्तु आगे आनेवाली घटनाएँ उनके महत्त्व को प्रस्फुटित करती हैं। इस प्रस्फुटन से ऐसे अद्भुत रस का संचार होता है जो उन पदों की कलात्मकता प्रतिपादित करता है। एक उदाहरण—

परवान के लिए वचनबद्ध दशरथ विवशता के आवेश में कहते हैं—

चली है देर, तू क्या आज करने !

... ..

मरूँगा मैं क्या पठनायगी तू

यही फल अन्त में बस पायगी तू !^१

जिस समय राजा ने ये वचन कहे उस समय न तो उन्हें और न कैकयी को यह धारणा हुई होगी कि वे सचमुच मर ही जायेंगे। ये आवेश-वाक्य मात्र समझे गए होंगे। किन्तु भविष्य की घटनाओं ने यह साबित कर दिखाया

कि आवेशवाक्य अश्वरथः भी फलीभूत हुए । अतः भविष्य की पटराओं ने मानों विहावलोकन न्याय से राजा के वाक्यों में साभिप्रायता का समावेश कर दिया; मानों भविष्य पीछे की ओर सरक कर वर्तमान के कलेवर में प्रतिष्ठ होगया । भविष्य-वर्तमान का यही कलात्मक संगमन हमारे हृदय में आदर्श का जनयिता होकर आनन्द का आधान करता है ।

यशोधरा की निम्नोद्धृत पंक्तियों भी अज्ञातरूप में पूर्वसंकेतित पटरा की ओर इशारा करती हैं—

आली ! वही बात हुई, भय जिसका था मुझे

मानती हूँ इनको गहन-यन-गामी मैं ।^१—इत्यादि

(आ) कलात्मक आशुतियों.—कमी कमी कवि किसी प्रसंग अथवा राबाद का केन्द्रीय और मर्मस्पृशी वाक्य इस प्रकार सुहरना आरंभ कर देता है कि जिससे ऐसी अनुभूति होने लगती है मानों कोई अज्ञात शक्ति हमारे हृदय के किसी एक तार को बराबर छेड़ कर उसे संवृत-प्रतिस्फुट कर रही हो । 'यशोधरा' का—

ओ क्षणभंगुर भव रामराम !

अथवा 'साकेत' का—

भरत-से सुत पर भी सन्देह

मुलाया तक न उन्हें जो गेह !^२

कलात्मक आशुति के सुन्दर नमूने हैं ।

१. यशोधरा पृ० २० ।

२. साकेत पृ० ३७-३८ ।

गुप्तजी :

राष्ट्रीय कवि अथवा जातीय (?)

✓ गुप्तजी को सामान्यतः 'राष्ट्र-कवि' या 'राष्ट्रीय-कवि' कहा गया है, किन्तु ऐसा कहना, हमारी समझ में, उचित भी है, अनुचित भी । उचित उस दशा में, जब हम 'राष्ट्रीयता' और 'जातीयता' इन दो भावनाओं में भेदभाव न रखें । सत्येन्द्र ने लिखा है कि "राष्ट्रीयता कवि का विशेष लक्ष्य रहा है; परन्तु, कवि संस्कृतिशून्य राष्ट्रीयता का पोषक नहीं ।"^१ स्पष्टतः यहाँ 'संस्कृति' से मतलब है 'हिन्दू-संस्कृति' से । और इस विशिष्ट अर्थ में हमें गुप्तजी को 'राष्ट्रीय कवि' घोषित करने में हिचक नहीं होनी चाहिये । किन्तु 'राष्ट्रीयता' अपने नूतनतम अर्थ में हिन्दू-मुसलिम दोनों संस्कृतियों की पोषक है, अथवा यों कहिये कि दोनों संस्कृतियों की संकुचितता से परे है । अतः यदि 'राष्ट्रीयता' की यह व्यापक भावना स्वीकृत कर ली जाती है, तो गुप्तजी की सीमित राष्ट्रीय भावना को 'जातीयता' की संज्ञा देनी होगी । और इस पहलू से

हम उन्हें 'जातीय कवि' कहेंगे। राष्ट्ररूप में समग्र भारत की कल्पना हमारे नए युग की नहीं देन है। आज हम भारत की राष्ट्रीयता की समष्टि में हिन्दू और मुसलमान जातीयताओं की व्यष्टियों को विलीन करने पर कटिबद्ध हैं किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गुप्तजी के दृष्टिकोण का सामूहिक शक्ति इतना विस्तृत नहीं हो सका है। गुप्तजी को हम नए युग का 'भूषण' भले ही कह लें; पर यह तो सर्वसम्मत है कि भूषण की जातीय भावना को हम सदियों पीछे छोड़ चुके हैं। माना कि 'गुरुकुल' के उदोद्गम में उन्होंने ने वा लिला है कि—

हिन्दू मुसलमान दोनों भय
छोड़ें यह विग्रह की नीति
शकट की गई है यह केवल
अपने धीरों के प्रति प्रीति।

किन्तु फिर भी इस एक वाक्य से उनके कार्यों की सामूहिक अन्तर्भावा का परिमार्जन नहीं हो सक्ता। क्योंकि उसी 'गुरुकुल' में कवि ने स्व-शब्दों में उद्धोषित किया है कि—

हिन्दू रहने का भी हमको
कर देना होता है हाथ !
और हमारे ही बल से वे
करते हैं हम पर अन्याय।

'गुरुकुल' का मुख्य उद्देश्य ही है यवनों के विरुद्ध मोर्चाबंदी
जाति धर्म की और देश की
लज्जा रक्षने के ही हेतु

यवनों के विरुद्ध गुरुकुल ने
फहराया है निज रणकेतु ।

‘भारत भारती’ में भी ‘इतमाय्य हिन्दूजाति’ ही कविता का केन्द्रीय बिन्दु है ॥ यवनों के प्रति विद्वेषभावना का प्रखरतर रूप हम ‘हिन्दू’ में पाते हैं । ‘हिन्दू’ एक प्रचारवादी (Propagandist) काव्य है जिसमें ‘उपयोगितावाद’ की ओट में साम्प्रदायिकता के नारे बुलन्द किये गए हैं । उदाहरणतः ‘फूट’ शीर्षक कविता में कवि ने अरब से आए हुए ‘तप्त रेणु’ के तूफान का वर्णन करते हुए उसे रोकने के लिये भारतवर्ष को श्रेय दिया है ।

‘जातीयता’ शीर्षक कविता पढ़ने से भी हमें यह विदित हो जायगा कि गुलजी का दृष्टिमंडल वर्तमान राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से कितना संकुचित है । उनका ‘हिन्दुस्तान’ हिन्दुओं का ही स्थान है । अतएव कई प्रसंगों में उन्होंने ‘हिन्दू-हिन्दुस्तान’ का समान आधान करते हुए ‘हिन्दूपन की टेक’ रखने के लिए हमें उत्तेजित किया है । ‘प्रतिधर’-वाली कविता में ते आघात के प्रति प्रतिघात देने तक के लिये कवि ने हमें सलकारा है । उसका मत है कि मुसलमान और क्रिस्तान भले ही हिन्दू हो जायें, लेकिन हिन्दुओं को मुसलमान और क्रिस्तान नहीं होना चाहिये ।

जो पर हैं अपने हो जायें
न कि बल्ले अपने खो जायें

—(जाति बहिष्कार)

‘मुसलमानों के प्रति’ तो स्पष्ट धमकियाँ भी दी गई हैं कि शायद—
देख तुम्हारी करनी नित्य
कर न उठें हम भी वे कृत्य ।

सन्देह यह सुझाया गया है कि उनकी घमनियों में भी 'हिन्दू-रक्त' ही प्रवाहित हो रहा है, केवल घर्म विपर्यय ने उनकी छाँछों पर परदा डाल रक्खा है।

तत्पर्य यह कि गुप्तजी की नजर में हिन्दुस्तान हिन्दुओं ही के लिये है—

हम सब हैं हिन्दू-सन्तान
जिये हमारा हिन्दुस्तान !

'हिन्दू' की पंक्ति-पंक्ति में शिष्ट विद्रोह की भावना परिलक्षित होती है।

अतः जिस समय हम ऐसी पंक्तियाँ पाते हैं जिन में हिन्दू मुसलमानों में प्रीतिभाव की चर्चा की गई है उस समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह भावना एक सुलहनामे का परिणाम है और इसके साथ कवि के समष्टिगत काव्यमय जीवन का अनिवार्य संबंध नहीं है। यह ठीक है कि गुप्तजी हिन्दू-मुस्लिम दंगे के पक्ष में नहीं हैं, कुछ मुगलमान उनके अभिन्न मित्र भी हैं। किन्तु फिर भी वे एक ऐसे 'स्वराज्य' की कल्पना करते हैं जिसमें हिन्दुस्तान हिन्दुओं का होकर रहे और हिन्दू हिन्दुस्तान के हो कर रहे। यह कल्पना 'जातीयता' की भावना से सुसंगत भले ही हो, किन्तु उस राष्ट्रीयता का प्रतीक कभी नहीं बन सकती है जिसे कामेस ने आदर्श के रूप में हमारे और हमारे देश के सामने प्रस्तुत किया है। गुप्तजी का 'हिन्दुस्तान' कुछ कुछ जिज्ञा के 'पाकिस्तान' की टक्कर का होगा।

(भा)

यदि हिन्दी साहित्य के अमर विधास में हम राष्ट्रीय-भावना के अमर-विकास का भी इतिहास देखना चाहें तो हमें प्रधान रूप में तीन स्तर ध्यान में आवेंगे। वीर-साहित्य के 'प्रथम उत्थान' में राष्ट्रीय भावना का भी प्रथम स्तर प्रतिबिम्बित है। इस 'प्रथम उत्थान' का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य 'पृथ्वीराज रासो' 'बीरबलदेव रासो' अदि है। इसके अध्ययन से हम उस समय के राजाओं और उनके द्वारा अनुश्रुणित कव्यों की निम्न-लिखित विशेषताएँ पाते हैं—

(क) भिन्न भिन्न राजाओं में परस्पर सह ;

(ख) विनाशिता के आधिक्य के कारण सघे वीररस का अभाव और वीरसाभास का आविर्भाव ;

(ग) कवियों के राजाश्रित होने के कारण उनमें स्वतंत्र मनोवृत्ति का अभाव, और अपने आश्रयदाताओं की विश्वासिली को 'ढोंगल' भाषा में व्यक्त करने की दुर्वासना के कारण ऐतिहासिकता की कमी ;

(घ) भारत की राष्ट्र के रूप में कल्पना तो दूर रही; हिन्दू-राज्य के रूप में कल्पना का भी अभाव; क्योंकि किसी अपनी अपनी छुर स्वार्थ-लिप्सा की ही संतुष्टि में व्यस्त थे ।

इस अन्तिम विशेषता का परिणाम यह हुआ कि पृथ्वीराज और जय-चन्द्र—जो दोनों मिलकर अपने देश की उड़ती हुई इमारत को धराशायी होने से बचा सकते थे—आपस में ही लड़ मरे; और, इतिहास साक्षी है कि, उन्होंने अपने राष्ट्र को एक इतर सत को निर्मग्न देकर सोव दिया । पृथ्वीराज का भावना भी वीर-भावना कही जा सकती है, किन्तु न तो इसे

जातीयता की संज्ञा दी जा सकती है न राष्ट्रीयता की। मते ही इसे व्यर्थापता का नाम दे दें।

वीरमावना के द्वितीय उत्थान का निदर्शन हम पाते हैं औरंगजेबी जमाने में, जिस समय मुगल घमण्वता ने प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दुओं की नसों में बीरता की बिजली संचारित कर दी। “पंजाब में गुड मेविन्दसिंह, महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी और गुर्देल्खंड में वीर छत्रसाल इस जागृति का मूर्तिमान रूप धारण कर भारत के रंगमंच पर रणचंदी का नृत्य दिखाने लगे”। किंतु हिन्दी साहित्य की दृष्टि से शिवाजी के चरित्रोपासक भूषण का स्थान आर्यत महत्त्वपूर्ण है। ‘क्योंकि वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं न छत्रसाल, न रावबुद्ध हैं न भवभूत सिंह, न बांभाजी हैं न सादूजी; इनके सबेरे सूर्यक हैं हिन्दू। अग्य नायक ‘हिन्दुधन की अपार’ ‘टाक हिन्दुआन की’ इत्यादि हैं। मरसक यह कि भूषण की कविता हिन्दूमय हो रही है”।

बाढ़ी के रनैयन की बाढ़ी सी रहत छाती

बाढ़ी भरजाद जस-हर हिन्दुमाने की।

कहि गटे रैयन के मन की कमळ सब

मिटि गटे उपर तमान तुलाने की ॥

(भूपद-अन्यथा) ।

—इन-ऐसी कवित्तों में हम हिन्दू जातीयता का उग्र स्वर पाते हैं, और यही है राष्ट्रीयता के कम-विद्यमान का दूसरा स्तर। तात्पर्य यह कि हमारी राष्ट्रीय भावना व्यर्थापता से ऊँची उठकर जातीयता में परिणत हुई।

किंतु आज यह जातीयता भी भारतीयता में स्फुटित हो चुकी है।

गुप्तजी का कल्पना कोकिला ने भी कहीं-कहीं ऐसी उड़ान ली है जिससे वे इस उच्चतर स्तर तक पहुँच सकें, और निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं:—

कोई काफिर कोई म्लेच्छ
हो तो होता रहे यथेच्छ
हिन्दू-मुसलमान की प्रीति
मेरे मानुभूमि की भीति

अथवा—

मानुभूमि का नाता मान
हैं दोनों के स्वार्थ समान ।

(मुसलमानों के प्रति) ।

किन्तु बात असल यह है कि ये उड़ानें क्षणिक हैं; उस उड़ान तक जाते जाते उनकी कल्पना के पंख धरने-से लगने हैं; और फिर वही साम्प्रदायिकता, वही जातीय दृष्टिकोण ! गुप्तजी के काव्यों के सामूहिक अध्ययन ^१ के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वे प्रायशः जातीयता के स्तर से ऊँचे नहीं जा सके हैं । हाल में 'जीवन-साहित्य' के सितम्बर १९४१ वाले अंक में प्रभाकर माववे ने 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त' शीर्षक लेख में गुप्तजी राष्ट्रीय कवि हैं या जातीय या प्रान्तीय—इस चर्चा को 'अज्ञानमूलक' कहकर टालना चाहा है, फिर भी न जाने क्यों अज्ञानतः इस 'अज्ञान मूलक' चर्चा में शामिल हो गए हैं । वे लिखते हैं—“ 'जातीय' उन्हें कहना अन्याय होगा । हिन्दू वीरों के और नायकों के चरित उन्होंने अधिक गाए हैं; मगर

१. 'सामूहिक' शब्द आवश्यक है, क्योंकि वहाँ तहाँ व्यापक राष्ट्रीय भावना भी लक्षित होना है ।

ईसा पर भी कविताएँ लिखी हैं; हुसैन-हुसैन पर भी शायद लिख रहे हैं; और उमर खय्याम का भी अनुवाद किया है। और मुन्दो अजमेरी आपके-केसे अमिन्न ये यह कौन नहीं जानता ?” माचवेजी जी व्याख्या से हमारी पूर्ण सहमति है, किन्तु उनके निष्कर्ष से नहीं। यों तो हम भी उन्हें सामान्यतः राष्ट्रीय कवि कहने को तैयार हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि—क्या नवयुग साहित्य के लिये ‘राष्ट्रीयता’ और ‘जातीयता’ ये दो भावनाएँ हैं या नहीं ? यदि हैं, तो फिर इस द्वैत की दृष्टि से हम उन्हें क्या कहेंगे—यह विचारना है। यह भी निरी मूर्खता होगी यदि कोई यह कहे कि गुप्तजी की कविताओं में राष्ट्रीय भावनाएँ हैं ही नहीं। हैं, और प्रचुर मात्रा में। यही कारण है कि हमने सामूहिक दृष्टि और सामूहिक अध्ययन पर बल दिया है। गुप्तजी की गिरफ्तारी से भी हम अपनी इस निष्पक्ष आलोचना को संशोधित करने की बाध्यता नहीं देखते। आंशिक दृष्टि से राष्ट्रीयता का अस्तित्व कौन नहीं स्वीकृत करेगा ? कवि की एक लाइन अथवा कोई एक संक्षयजनक प्रगति उसे सीकचों के अन्दर पित्ररित करने की दशेष्ट है, पर यह अनिवार्य नहीं कि उसकी गिरफ्तारी का उसकी सामूहिक काव्यभावना के साथ अन्योन्याधाय संबंध स्थापित हो जाय। ‘भारत-भारती’ के कुछ दिनों तक ‘निषिद्ध साहित्य’ (proscribed) होने में कौन सी मनोरंजक परिस्थिति कारण बनी या इसका परिचय हिन्दी संसार को मिल चुका है। अतः कवि की गिरफ्तारी कोई ऐसी आश्चर्यकारी घटना नहीं है जो एकबारगी उसकी रचनाओं पर उस ‘राष्ट्रीयता’ की मुहर लगा दे।

यदि गुप्तजी चाहते तो जिस तरह प्राचीन काल में जायसी ने, और नवयुग में प्रेमचन्द ने, अपने कव्यों और उपन्यासों में हिन्दू और मुसलमानों

के सामान्य हृदयपत्र को प्राधान्य दिया था और है, उसी तरह ये भी एकांगी जातीयता से ऊपर उठ सकते थे। किन्तु हमारे कवि को अपने खोए हुए अतीत के दोरे-जवाहिर की सुखद स्मृतियों से फुरत मिटे तब तो ! मैथिली-धारण गुप्त में यह क्षमता नहीं कि ये वर्तमान युग का काव्य-कलेवर रचा करें। अतीत के अस्थिपंजर में जन्म कूंकना और बात दे, वर्तमान का जीवित चित्र अंकित करना और यहाँ तो अस्थि पंजर का भी निर्माण कीजिये और उसमें प्राण प्रतिष्ठा भी कीजिये। अतः यदि साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से यह कहा गया कि-गुप्तजी का युग बीत गया ! तो इस उक्ति की आंशिक सत्यता तो माननी ही होगी।

इसके अतिरिक्त एक और कारण है कि हम गुप्तजी को राष्ट्रीय कवि नहीं कह सकते। यह यह कि अब तक का हमारा पिछला साहित्य राज परिवार में पला है। रामायण, महाभारत, रघुवंश, शार्ङ्गदल-राय जगद राजा और रानियों के साथ ही हमारे कवियों की प्रतिभा अनुचरी बनी रही; मानों जीवन का प्रतिनिधित्व राजपराने में ही मिलता हो। किन्तु आज हमारी मनोःस्थिति में बहुत बड़ी क्कन्ति हो चुकी है। हम अपने जीवन का राधा प्रतिबिम्ब राजे-महाराजे अथवा धन-शुबेरी या रईसों के महलों में नहीं पाते हैं, बल्कि पाते हैं उसे गरीब किसानों और दीन दीन मजदूरों की दूरी कूड़ी होपकियों में। आज शावद भूख से कराहती हुई दृष्टियों के बीच से साँकती हुई ज्वालामुखी आँसों से निकले हुए छोले बड़े से बड़े राजशासकों को भस्म कर देंगे। किसान और मजदूर हमारे काव्य के उपेक्षितों में से हैं। करीन्द्र रवीन्द्र ने उर्मिला आदि काव्य की उपेक्षिताओं पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। गुप्तजी ने इसे अनुभव किया और 'गलोघर' तथा 'साकेत' का राजन

किया । किन्तु आवश्यकता है अब ऐसे कवियों की जो उपेक्षितों के साथ साथ उपेक्षितों की भी सुधि लें । 'विज्ञान' के समरूप और शक्तियों ॥ निर्माण हरके गुप्तजी ने हमारा बड़ा उपकार किया होता !

गुप्तजी की अत्यधिक धर्मप्रवणता भी संभवतः उनकी उदार राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध में बाधक सिद्ध हुई है । नवीन आन्तिमुग के कतिपय राष्ट्रवादियों ने धर्म और भगवान दोनों का बहिष्कार तक करने की ठान ली है । लेनिन (Lenin) ने धर्म को मनुष्यों का व्यक्तिगत मत मात्र (Opiate of the people) माना है । और कमाल पाशा ने धर्म को ज्वालामुखी की वह ठंडी लावा माना है जो राष्ट्र की ज्वलन्त आत्मा को ढक कर उसे कुण्ठित किये रहती है (the cold, clogging lava that holds down below its crust the flaming soul of the nation) । मानते हैं कि धर्म के विरुद्ध इस प्रकार की विद्रोहभावना अनावश्यक है; किन्तु अनावश्यक है उतनी ही धर्म की सन्न-सन्न-सर्वत्र 'दाल भाग में मूसरचंद' के समान अव्याहत गर्त । गुप्तजी की कविता में भी वह अनधिकार चेष्टा भर बैठा है । भगवान की पौरुषेय कल्पना भी भगवान की सीमिन बनाना है और गुप्तजी की भावुकता का भगवान पौरुषेय है-अवतारी है । 'साकेत' में स्वरूप में कविने लिखा है कि—

हो गया निर्गुण सगुण-नामर है
छे लिया अम्बिकेश ने अवतार है ।^१

इसके अतिरिक्त इसी ग्रंथ के एक मुखपृष्ठ पर तो यह बात प्रश्न रूप में छेड़ी गई है कि—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?^१

तथा 'संसार' में कवि ने भगवान को 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं'^२ स्वतंत्र लिप्त किया है। उसकी समझ में भारत की वर्तमान अधोगति भी मानों भगवान का अभिशाप है। अतः हमें उसकी कृपादृष्टि के लिये चातक के समान उत्सुक रहना चाहिये। एक न एक दिन अभिशाप की अवधि आप ही पूरी होगी और वह हमारी सुधि लेगा—

प्रभु पर है भारत का भार
हुए जहाँ उनके अवतार
होगा जो कुछ है भवितव्य
पालो तुम अपना कर्तव्य ॥^३

जहाँ भवितव्यता पर इतना भरोसा होगा वहाँ क्रान्ति की विनगारियाँ आसानी से नहीं उड़ सकती।

'हिन्दू' की भूमिगत में कवि ने अपने को सान्त्वना देते हुए लिखा है कि 'उसकी तुच्छ तुकबंदी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति-गंगा में ही एक डुबकी लगाकर 'हर गंगा' गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य

१ साकेत-मुख पृष्ठ (मूची के बाद) ।

२ संसार-पृष्ठ ५६ ।

३ हिन्दू - पृष्ठ १५ ।

हो जायगा"। हमारी सम्मति में 'हिन्दू' तो क्यों और मुसकों में भी उसे वृत्तवृत्त्यता हासिल हुई है और उसने 'हरगंगा' गाना भी है, किन्तु जाति-गंगा में दुबकियाँ लगाकर, न कि राष्ट्र-गंगा में। यदि राष्ट्र-गंगा में एकदम दुबकियाँ लगी भी, तो छिछले पानी में।

गुप्तजी

का

समन्वय-काद

गुप्तजी भारत के सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय गगनप्रागर्भ में अतीत और वर्तमान का स्वर्णिम सम्मिलन देखना चाहते हैं। भूत और वर्तमान-द्वारों की नींव पर मविष्य के भवन की मिति खड़ी करना वे अपना लक्ष्य समझते हैं। जिन प्रकार भारतेन्दु ने 'अंबर नगरी' द्वारा राष्ट्रनिर्माण का, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' द्वारा धर्म सुधार का, और 'नीलदेवी' 'भारतदुर्दशा' आदि द्वारा समाज-सुगठन का मार्गनिर्दर्शन किया, उसी प्रकार गुप्तजी ने 'भारत-भारती' 'हिन्दू' 'किष्कंध' 'अनघ' 'स्वदेशसंगीत' आदि रचनाओं द्वारा हमें " अपने राष्ट्र, जाति और समाज के कामाक्य की ओर आमंत्रित किया है। दोनों कवियों का दृष्टिकोण भी समन्वयवादी है। उदाहरणतः 'नीलदेवी' में भारतेन्दु ने भारत-रमणी का जो आदर्श संकेतित किया है वह न 'श्राम्या' का है, न 'अरदापुत्रिका' का। इस नाटिका की मृमिका में उन्होंने लिखा है-

“जब मुझे अंगरेजी रक्खी लोग मेद-संचित केसरशि, कृत्रिम कुन्तल-जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वस्त्रन से मृषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्न बदन इधर से उधर फर-फर बल की पुनली की भौंति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं, तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है, और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसीको न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी दुबली-समूह की भौंति हमारी कुललम्बीगण भी लज्जा की तिलाञ्जलि देकर अपने पति के साथ घूमें, हिन्दु और बातों में जिस भौंति अंगरेजी स्त्रियाँ स्वाधीन होयी हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संज्ञानगण की शिक्षा देती हैं, अपना स्वतः पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विरति की समझती हैं, उनमें सहायता देती हैं, और इतने समुत्तम मनुष्यजीवन की व्यर्थ ग्राह्य दास्य और बलह ही में नहीं खोती, उषी भौंति हमारी यहदेवता भी वर्तमान होनावस्था को उद्दामन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।” मुत्तरी भी स्त्रियों की दीन-हीन दशा पर आँख बहाते हैं और इस बात पर तरस खाते हैं कि हमने उन्हें ‘पशुवृत्ति का साधन’ मात्र बना डाला है। स्वयं तो पुरुष उच्चशिक्षा प्राप्त हैं, उनकी नारियाँ ‘अतिशार्वर्णिनी’ बन रही हैं। स्वयं तो पापलिप्त हैं, पर स्त्रियों की सतीत्व के उच्चतम शिखर पर आहङ्ग देखना चाहते हैं। मानों—

निज दक्षिणांग पुरीष से रखते सदा हम लिप्त हैं

वामांग में चन्दन चढ़ाना चाहते, विक्षिप्त हैं !”

सांख्यिक रूप से भी गुप्तजी अपने दृष्टिकोण में दक्षिणानुस नहीं हैं। वे समाजसुधार के पक्षपाती तो अवश्य हैं, पर समाज की नैया को अपनी प्राचीन संस्कृति के कूल से बिलकुल विच्छिन्न भी नहीं देखना चाहते। 'जैसी बहे बयार बीठ तर तैसी कीजे' वाले सिद्धान्त को वे मान्य समझते हैं।

हमको समय को देखकर ही नित्य चलना चाहिये
 बदले हुए जिस तरह हमको भी बदलना चाहिये
 विपरीत विद्वत्-प्रवाद के निज नाश जा सकती नहीं
 अथ पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पर सरनी नहीं।^१

न तो हमें प्राचीनता की सकोर ही पीटते चलना चाहिये, और न सदा नवीनता का ही सुर अनापना चाहिये।

प्राचीन हों कि नवीन छोड़ो रूढ़ियों जो हों गुरी
 बन कर धिवेकी तुम दिखाओ हंस-जैसी चातुरी
 प्राचीन बातें ही भली हैं, यह विचार भलीक़ है
 जैसी अवस्था हो जहाँ, वैसी व्यवस्था ठीक है।^२

वर्तमान विज्ञानवाद के चक्रावर्ध प्रकाश में भी निरी प्राचीनता की कन्दरा में घोंप रहना कवि को इष्ट नहीं है। वह खुले दिल से 'नवयुग' का स्वागत करते हुए गाता है—

तू सु-नवीन

• मैं प्राचीन

दोनों का सम्मिलन प्रौढ़ता प्रकट करे स्वाधोन !^३

-
- | | |
|----------------|-----------|
| १. मातल भरती | पृ० १६० । |
| २. ,, | पृ० १६० । |
| ३. सरिता मंजरी | पृ० १०२ । |

—इसी 'सम्मिलन' को हमने 'समन्वयवाद' का शीर्षक दिया है। नगेन्द्र के शब्दों में कवि की कविता में प्राचीन का विश्वास और नवीन का विशेष्ट दोनों समन्वित होकर एक हो गए हैं।^१

गुप्तजी

का .

प्रकृति-पर्यवेक्षण

प्रकृति से व्यत्यय नहीं मानवेतर प्रकृति से है न कि मानव। "जब हिन्दी के परमाणु युद्ध का प्रदर्शन हुआ तो कई क्षेत्रों में शान्ति हुई। भारतेन्दु ने मानव प्रकृति के अन्तःसौन्दर्य के निरूपण और निशदीकरण की ओर भी अपनी प्रतिभा को प्रेरित किया। किन्तु मानवेतर प्रकृति की वैज्ञानिक स्फुरादि से वे भी तदासीन हो रहे। उनके जहाँ-तहाँ संग, यमुनादि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों से पता चलता है कि उनमें भी प्रकृति की 'नग्नमाधुरी' के प्रति रुचिता आकर्षण न था, जितना जैन्सी आकृतिकार्यों अथवा मनोहर ध्वने-सुनि पाट-बाजों के प्रति। वे ही शुरुआत गतानुगतिक निर्वीच उपमाएँ तथा उत्प्रेषणें। मानवेतर प्रकृति के जीवित, जाग्रत और स्वप्नित रूप की सौन्दर्य-सुभूति से वे वसिन्त हो रह गए।" ^१ किन्तु भारतेन्दु मंडल में ही ठाकुर

१. संग्रह के 'महाभारत इतिहास का अध्ययन' से उद्धृत। पृष्ठ २७-२८।

जगमोहन सिंह ऐसे हुए जिन्होंने 'विविध भावमयी प्रकृति के रूपशायु' की सभी अनुभूति हासिल की। 'बाबू हरिदचंद, पंडित प्रतापनारायण आदि कवियों और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानवक्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहन सिंहजी ने, नरक्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है'।^१ फिर तो परम्परा ही चल रही और प्रकृति के जीवित चित्र की ओर कवियों का ध्यान गया। पश्चिम के वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) आदि तथा यहाँ के रवीन्द्र आदि की प्रकृतिपरक कविताओं का भी प्रतिफलन पड़ा। नवदुर्गा न छायावादी काव्य को छोड़ दिया जब, तो प्रकृतिपर्यवेशी कवियों में हमें तीन नाम अग्रणी प्रतीत होंगे—हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिली-शरण गुप्त। प्रस्तुत परिच्छेद में हम केवल गुप्तजी के प्रकृतिचित्रण की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

संक्षेप में वे ये हैं—

(१) हृदय विधान की दृष्टि से प्रकृति का कलात्मक निरुद्देश्य वर्णन।

कथा-- 'साकेत' से:-

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
छिप्पु मुरसलित कहीं, सरयू कहीं ?

.....

भाम पाम लगी वहाँ पुलवारियों
हँस रही है खिल खिलाने क्यारियों।^२

१. रामचंद्र गुप्त. हि. सा. का इन्डियन (नवीन संस्करण) पृ० ५६५-६६।

२. सप्तमे ५० ५-६।

अथवा— 'सिद्धराज' से:—

संध्या हो रही है। नील गम में, शरद के
शुभ्र घन तुल्य, हरे घनमें, शिखर के
• स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत मानु का
अरण प्रकाश पड़ झलक रहा है यों
छलक रहा है भरा भीतर का वर्ण ज्यों।^१

(१) मानव-जीवन के लिये उपदेशग्रहण के उद्देश्य से प्रकृति का
उपयोग। यथा— 'वैतालिक' का उपावर्णन।

किशोरों की मारजी चली
हुई सूर्य की स्वच्छ गली
चन्द तुम्हारा ही पय क्यों ?
रुद्ध विमुद्ध मनोरथ क्यों ?^२

(२) मानव हृदय और मानवेतर हृदय में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का
निर्दर्शन। यथा— 'यशोधरा' से :—

सखि! वसन्त-से कहाँ गए वे
मैं ऊन्मा-सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सही, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।^३

(४) प्रकृति को अप्रस्तुत बनाकर उसके द्वारा प्रस्तुत का अलंकरण।

१. सिद्धराज पृ० २।

२. वैतालिक पृ० २२।

३. यशोधरा पृ० ५०।

उपमा, रूपक, उत्प्रेषादि अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार यही है। यथा—
‘जयद्रथवध’ से :—

विषधर बनेगा, रोष मेरा खल तुझे पाताल में
दावाभि होगा विपिन में, बाइवजलधि-जल-जाल में ।
जो ख्योम में तू जायगा, तो बज्र वह दन जायगा
चाहे जहाँ जाकर रहे जीवन न तू रह जायगा ।^१

जहाँ ‘प्रतीप’ आदि अलंकारों में मानवैतर प्रकृति उपमेय बना दी जाती है, वहाँ भी वस्तुतः वह अप्रस्तुत ही रहती है।

(५) कल्पनोत्कर्ष द्वारा अथवा भावुकता के आवेश में मानवैतर प्रकृति के साथ ऐसा बर्ताव करना मानों वह सखी-सहेली बन आय। यथा—
‘साकेत’ से :—

अरी सुरभि ! जा लौट जा, अपने अन्न सहज
तू है फूलों में पली, यह बादों की सेज ।^२

अथवा—

चार्ताक ! तुझ को भाजही हुआ भार का भान ।

हा ! यह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान !^३

प्रकृति के साथ ऐसी तादात्म्यभावना हमारे नए युग की विभूति है, और है विभूति शुभ्रजी के प्रकृतिचित्रण की भी ।

१. जयद्रथवध पृ० ४० ।

२. साकेत पृ० २६६ ।

३. „ पृ० २७४ ।

करुण और क्रूरुण्य

भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में (जिसका समय ईसा की प्रारम्भिक साताब्दी के आस पास माना जाता है) अपने पूर्वचार्य ह्रदिग के प्रमाण पर आठ रसों का उल्लेख किया है—

शृंगार-हास्य-करुण-रोद-वीर-भयानकः ।

धीमत्साऽद्भुतसंज्ञी चेत्यष्टौ नाट्ये रमाः रसुताः ॥^१

ये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रोद, वीर, भयानक, धीमत्सा, अद्भुत इन रसों के स्थायी भावों—अर्थात् अन्तर्भावों के रूप में सार्वदा विद्यमान रहने वाले मनोभावों—का भी उल्लेख भरत ने किया है । ये ये हैं:—

रस	स्थायी भाव
शृंगार	रति
हास्य	हास

रस	स्थायी भाव
करण	शोक
रोद	क्रोध
धीर	उत्साह
भयानक	भय
बीमत्स	जुगुप्सा (घृणा)
अनुत	विस्मय ।

फिर शृंगार के दो भेद माने हैं—संभोग; विप्रलम्भ । संभोग शृंगार के अनुभाव हैं—नयनचातुर्य, भ्रूविशेष, कटाक्ष—संचार, सत्स्निग्ध-मधुर अंगहार और वाक्यादि ।^१ विप्रलम्भ-शृंगार के अनुभाव हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, अस्वप्ना, धर्म, चिन्ता, औत्सुक्य, निराशा, स्वप्न, विषोक्त, व्याधि, उन्माद, अरस्मार, जलज्वर, मरणदि ।^२ तीनों तो विप्रलम्भ शृंगार (वियोग) के शृंगार की कोटि में गिना दिया, किन्तु अनुभाव ऐसे गिनाने परे जिनका अन्य रसों से भी सम्बन्ध है, विशेषतः करण से । अतः उन्हें एक अद्वितीय समस्या का अनुभव हुआ । फिर भी समाधान करना ही था । अतः उन्होंने प्रश्न किया—

‘हाँ, तो यदि शृंगार रसि से उत्पन्न है, तो फिर इसके ऐसे भाव क्यों होते हैं जिनका आश्रय करण रस है ?’^३

१. नाट्यशास्त्र— अ० ६ । श्लो० ४५ के बाद का पद्यभाग ।

२. “ — “ ६ । “ ४५ “ “ ।

३. अनाह—यद्यपि रसिप्रभवः शृंगारः स्वयमेव वरदाश्रयिणो भावा भवन्ति ।

स्वयं उत्तर दिया—

‘यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि शृंगार संयोगात्मक भी है वियोगात्मक भी।’^१ अब इस तरह बात टाटने से संतुष्टि नहीं हुई तो प्रार्थना की—

‘करण के कारण दाय, वसेद्य, विनिपात्र, इष्टजनवियोग, विभवनाश, बन्ध, बन्धन आदि हैं; इसमें औत्सुक्य और चिन्ता प्रधान हैं; यह निरपेक्ष है। किन्तु विप्रलम्भ शृंगार सापेक्ष है। इस प्रकार करण और विप्रलम्भ के दोनों एक दूसरे से वृथक् हैं’^२।

परसुद्धत प्रश्नोत्तरी से यह स्पष्ट मालूम होता है हमारे आचार्यों ने एक वर्गीकरण की ध्रुवसत्य मानकर फिर किसी न किसी प्रकार एक को दूसरे से विभिन्न प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। यद्यपि करण में भी इष्टजनवियोग शामिल है, तो फिर विप्रलम्भशृंगार और करण के बीच कोई भी रेखा खींचना कठिन है; क्योंकि विप्रलम्भ में भी इष्टजन (प्रेमपात्र) का ही वियोग होता है।

भरत के उत्तरवर्ती आचार्यों ने रसों की संख्या में एक और—
शान्तरस—जोड़कर, और कुछ ने वस्तुसत्य भी समाविष्ट कर, उने नव और क्रमशः दस दिया; किन्तु विप्रलम्भ और करण की समस्या बलही ही रह गई। फिर ऐसी भी परिस्थितियाँ आईं जिनसे बाध्य होकर

१ अत्रोच्यते—पूर्वमेवामिहितः सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृंगार इति ।

२ वरपरसु दाय-वसेद्य-विनिपात्रनेष्टजनवियोगविभवनाश-बन्ध-बन्धनसमुत्थोक्ति-
पेक्षभावः—औत्सुक्यचिन्तानुत्पत्तिः । सापेक्षभावः विप्रलम्भकृतः । परन्तु-
करणः अन्यश्च विप्रलम्भः ।

विप्रलम्भ के एक उपमेद को कल्पना की गई जिसका नाम करुण-विप्रलम्भ रखा गया। यह रस उस समय संचारित होता है जिस समय दो तरुण प्रेमियों में से एक की मृत्यु हो जाय और दूसरा प्रेम-विह्वल होकर तड़पने लगे।^१ यदि यह आलोचना स्वीकृत कर ली जाती है तो भरत मुनि ने जो 'सापेक्षत्व' को विप्रलम्भ की विशेषता बताई थी वह भी नष्ट हो जाती है; और विशेष परिस्थितियों में करुण और विप्रलम्भ में कोई भी अन्तर नहीं रह जाता।

हमारा निजी विचार है कि विप्रलम्भःशृंगारःशृंगार है ही नहीं। और यदि है भी तो इसी अंश तक जिस अंश तक पत्रव्यवहार, प्रतीक्षा आदि द्वारा रति की आग में ईंधन पकती रहे। किन्तु जब कभी विप्रलम्भ तीव्र हो जायगा, हमारी मनोदशा लगभग वैसी ही हो जायगी जैसी करुण में। अतः करुणरस और विप्रलम्भःशृंगार-रस की सूक्ष्म विवेचना की अपेक्षा में न पड़कर हमें निर्द्वन्द्व रूप से 'करुण' शब्द का प्रयोग ऐसी परिस्थितियों में करना चाहिये जिनमें दो प्रेमी परस्पर त्रिभुक्त होकर शोकविह्वल हो रहे हैं। यदि शोक को करुण का स्थायी माना गया है, और पतिपत्नी वियोग में भी शोक का उद्भव होता है तो फिर वैसी दशा में वहाँ करुणरस का अस्तित्व क्यों न माना जाय ?

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए हमने 'करुण' अथवा 'करुण्य' का उसके व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है; न कि शास्त्रीय प्रमाद-वश। हमारे

१ यूनेरेकमस्मिन् गतवति लोभान्तरे पुनरुत्पन्ने ।

विमनावने यदुत्पन्ना मनेन्द्रेण विप्रलम्भात् ॥

—अद्वैतदर्पण । परिच्छेद ३ । श्लोक २०९ ।

मित्र श्री प्रोफेसर विद्वनायप्रसाद ने पुस्तक के नाबकरण में 'करुण' के बदले 'कारुण्य' के प्रयोग का इस दृष्टि से अभिनन्दन किया या कि 'कारुण्य' व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है और 'करुण' शास्त्रीय संकुचित अर्थ में। मुख्यांश में यह धारणा उपयुक्त है, किन्तु सर्वत्र इस सूत्रम भेद का निपाहना न तो संभव है, न अपेक्ष्य। अतः 'करुणा', 'करुण', 'कारुण्य'—इन तीनों का यथा-दसर यथोचित प्रयोग किया गया है,—नैसर्गिक मनोभावों को ध्यान में रखकर न कि शास्त्रीय ढंटे को।

'करुण' का यह व्यापक प्रयोग संस्कृत के महान् कवि भवभूति को भी श्रद्धा था। सभी तो उन्होंने कहा—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्

भिन्नः शृणु शृणुगिराधुवे विवर्तान् ।

—उत्तररामचरितम् ।

महाकवि 'हरिऔध' ने भी 'वैदेहीवनराम' के वक्तव्य में 'करुणरस' पर विवेचना की है। उन्होंने उस की व्यापक परिभाषा यों की है—

"करुणरस शरीरभूत हृदय का वह सरस प्रवाह है,—जिससे सहृदयता-
क्यारी सिञ्चित, मानवता फुलवारी विकसित और लोकहित का हरा भरा उद्यान
सुसज्जित होता है।" साथ ही साथ यह भी दिखलाया है कि "गुंजार रस
पर करुणरस का कितना अधिकार है।" यत्कि गुंजाररस निरंतरता ही तब है,
जब उसमें करुण का पुद्गल रहता हो। गुप्तजी की कविताओं में भी 'करुण',
'करुणा' अथवा 'करुणरस' के जो प्रयोग मिलते हैं, उनसे उनके व्यापक अर्थ
का ही भाव होता है।

यथा— छिन्न भी है निघ्न भी है हाथ !
 क्यों न रोवे हेरानी निरुपाय ?
 क्यों न भर आँसू धहाने निन्य ?
 सौच करने, सरस रख साहित्य ! ^१

पुनश्च—

करने ! क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक लू रोई—
 'मेरी विभूति है जो उसको भयभूति क्यों कहे कोई ?' ^२
 अगम्य तो "रदन रस" नाम का एक रस ही कल्पित कर लिया
 ने—

उस रुदन्ती विरहिणी के रदन-रस के लेप से
 और पाकर तापू उसके प्रिय-विरह-विशेष से
 धग-धग सदैव जिनके हों विभूरग क्यों के ?
 क्यों न दन्ते कविजनों के तादृश सुवर्ग के ? ^३

'यशोधरा' में भी यशोधरा ने शक्रजु संकेत से सुपनी विरहगाय
 'करुणाभरी कहानी' ^४ कहा है । इन उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि

(१) कवि को 'करुण' अथवा 'कारुण्य' का व्यापक अर्थ ही ज्ञाति
 है, जिनमें वियोगगाथाएँ भी उसमें आजायें;

(२) कारुण्य-वारा कवि के काव्य की प्रधान धारा है । ^५

१. साकेत पृ० १६५ ।

२. साकेत पृ० २५० ।

३. ,, पृ० २५० ।

४. यशोधरा पृ० ८१ ।

५. इस सन्ध में देखिये—लेखनकृत 'महामहि हरिऔध का प्रियप्रवास', अथ

७ शीर्षक 'वास्तव्य-नतिक हरिऔधजी और सुपनी'

पटाक्षेपः.

इस शारीरिक व्यक्तित्व पर पटाघेय करने के पूर्व दो बातें और निवेदित कर देनी हैं :—

(६)

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के जीवन कृत के पढ़ने से यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि कारण्यधारा न केवल हमारे चरित-नामक के काम्य की ही प्रमुख धारा रही है, अपितु उनके जीवन की भी । जिस समय उनके जीवन-गगन में प्रथम-प्रथम कनक के कुंकुम की कमनीय ध्वनि विकीर्ण होनेवाली थी, उस समय दुर्भाग्य के दुर्दान्त दुर्दिन छा गए । कलत्रः, करि का भायुक्त हृदय 'अपना' रोना रोकर देस के लिए 'रोनेवाला - बन-भैठा' । आगे चलकर कवि की कलम की जोर व्यापार में लड़े हुए काशन का तो क्रमशः सींच झड़; पर अरन्ध और पत्नी के प्रणय का ध्याला भर-भर कर लड़क

पदा,—जाने कितने 'अर्धाखिले कुसुम' विधना ने असमय में ही मसल डाले ।
 अतः यदि गुप्तजी की कविता की लक्ष्यों में आँख के मोती अनायास ही लुप्त
 गए हों, तो उनमें कोई भी सहृदय समालोचक कवि के करुण-करुण हृदय
 का अरुण-अरुण प्रतिबिम्ब देख सकता है, विशेषतः ऐसी दशा में, जब आलो-
 चक का हृदय स्वतः धायल हो चुका है ।

(ख)

'पृष्ठभूमिका' के प्रेस में आने पर श्रीयुत सियारामशरण गुप्त ने गुप्तजी
 की कृतियों का प्रकाशन-काल सिलसिलेवार लिखवा भेजा है । उसे मैं संक्षेप में
 इस उद्देश्य से दे रहा हूँ ताकि कवि की प्रतिभा और शैली के विकास के
 ऐतिहासिक अध्ययन में साहाय्य हो सके ।

प्रथम-प्रकाशन-संघत् रचना

१९६६	रंग मे भंग ।
१९६७	जयत्रेय-वध ।
१९६८	पद्म-प्रबंध (अप्राप्य) ।
१९७१	भारत-भारती; विरहिणी-मञ्जांगना ।
१९७२	तिलोत्तमा ।
१९७३	चंद्रहास ।
१९७४	किमान ।
१९७६	पत्रावली; चैतालिक ।
१९७७	शकुन्तला, पलासी का युद्ध ।
१९८२	पंचवटी; अनघ; स्वदेश-संगीत; गोतामृत ।

१९८४	वीरांगना; मेघनाद-वध; शक्ति; वन-चैभव; यक्र-संहार; सैरंघी; हिंदू ।
१९८५	विकट-भट; गुरकुल ।
१९८६	झंकार; स्वप्नवासवदत्ता ।
१९८८	रुवाइयात उमर प्रम्याम; साकेत (प्रथम चार सर्ग १६७३-७४ में लिखित) ।
१९९०	यशोधरा ।
१९९३	द्वापर; सिंदराज ।
१९९७	नहुष ।

“इन पुस्तकों के अतिरिक्त सैकड़ों फुटकर कविताएँ सामयिक पत्र पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुईं। उन्हें संगृहीत करके कई कविता-संग्रह निकल सकते हैं। उनके प्रकाशन का विचार हो रहा है। ‘कविता-कलाप’ नामक पुस्तक में, जो इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था, अनेक कविताएँ संगृहीत हैं।” (श्रीसियाप्रमरण गुप्त के पत्र से उद्धृत)।

(ग)

इस आलोचना-ग्रंथ के प्रथम में जिन ग्रंथों से मैंने सहायता ली है उनका श्रेणी हूँ। उनमें एक मेरे सहाय्यापक प्रो० जगन्नाथराय शर्मा का भी है। प्रो० डा० ईश्वरदत्त (पटना कालेज के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष) एवं प्रो० विश्वनाथ प्रसाद (मेरे सहाय्यापक) ने, जब प्रथम-प्रथम निबंध-रूप में ग्रन्थ के कुछ अंश पढ़े गए थे, उस समय, जो अमूल्य सम्मतियों दीं, उनका मैं कृतज्ञ हूँ। अपने आचार्यों-डा० हरिचंद शास्त्री एवं डा० बनर्जी शास्त्री-का भी मैं

कृतकृत्य हूँ, जिनकी प्रोत्साहनाओं एवं सदिच्छाओं की पतवार ने समीक्षा की इस डगमगाती डोंगी को विनारे सगाया है।

श्री० रामलोचनशरण 'बिहारी' (उपनाम 'मास्टर साहब') ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में जिस स्नेह एवं वत्सलता का प्रदर्शन किया है, वे मेरे मानस-पटल पर चिर-मुद्रित रहेंगे। उनकी अनुरम्भा पम्पा ने न जाने कितने बिहार के ऐसे कवियों और लेखकों की प्रतिभा परस्विनी को जीवन दान दिया है, जिनके काव्य कण कीर्तियों के द्वारा कवलित अग्रजों में पड़े मानों कराह रहे थे —

‘सूर’ सिकत हठि नाव चलावो ये सरिता हैं सुखी !

पटना कालिज, पटना ।
ईशायली, १९४१ ।

}

—विज्ञानचर्चितचरणरेणु
धर्मेन्द्र ।

गुप्तजी

के

काव्य

की

का

रु

ण्य

धा

रा

विषय-सूची



आरम्भिक

पृष्ठसंख्या

विषय-प्रवेश	१
प्रबन्ध काव्यों की	
आलोचना:	
रंग में भंग	३
जयद्रथवध	७
शकुन्तला	१०
संचरटी	१५
वनवैभवा	२०
मैरंध्री	२३
प्रिययया	२७
किमान	३०
विरुट भट	३३
गुरुकुल	३५
द्वापर	३९
यशोधरा	४६
साकेत	५९
मिहिराज	८८

आरम्भिक

पृष्ठसंख्या

नहुष	९६
शक्ति	१०१
स्फुट काव्यों की	
आलोचना:	
भारत-भारती	१०७
स्वदेशसंगीत	१२०
भंगलघट	१२८
पञ्चावली	१३६
हिन्दू	१४५
वैनालिक	१४९
‘शंकार’ और गुप्तजी	
की छायावादिता	१५७
नाटक:	
निलोत्तमा	१८५
अनघ	१९४
चन्द्रहास	२०५
अनुवाद ग्रन्थ ।	२१९
गुप्तीय भाव-चित्रावली	२२५

प्रतिपाद्य विषय

की

झाँकी



प्रथम खंड : प्रबन्ध काव्य ।

परिच्छेदसंख्या

आरम्भिक पृष्ठसंख्या

- | | | |
|---|--|----|
| १ | विषय प्रवेश और कवि की रचनाएँ । | १ |
| २ | रंग में भंग—कवि की पाँच विशेषताएँ—
काव्य का 'शोचनीय प्रसंग' । | ३ |
| ३ | जयद्रथ-वध—सीन मर्मस्पर्शी स्थल—उत्तरा
का विलाप । | ७ |
| ४ | शकुन्तला—कालिदास का कृष्ण-काव्य के
करण प्रसंग—'शकुन्तला' यशोधरा
का अरुणिम अमृत—नारीसम्मान
के प्रति कवि का पक्षपात । | १० |
| ५ | पंचवटी—वारण्य, शृंगार और हास्य का
समन्वय—विषाद पर आनंद की
विजय—भागी-देवर-संबंध—अबला
प्रबला के रूप में । | १५ |

- ६ वन-वैभव—परिस्थिति-वैषम्य से करुणा की मासिकता । २०
- ७ सैरंध्री—स्त्रियों के प्रति अतिसहानुभूति—
द्रौपदी का रौद्ररूप—कारण के संबंध में प्राशस्त्य और पूर्वीय दृष्टिकोण । २३
- ८ यक-संहार—प्राकृत परिवार की दयनीय दशा—कुन्ती के हृदय में कर्तव्य और वास्तव्य के बीच अन्तर्द्वन्द्व । २७
- ९ विस्तान—इस काव्य की विशेषता—कथा-यत्न की बारुणिकता । ३०
- १० विकट भट्ट—इन्द्राय के सकरण प्रसंग । ३१
- ११ गुरुकुल—कथावस्तु का गृहस्थ-वीर रस और बलिदान—गुरु गोविन्द और वैरागी वृद्ध का कारण । ३५
- १२ द्वापर—कथानक का आधार—शैली—स्त्री पात्रियाँ, विशेषतः 'किष्कि', की करुणगाथा—यशोदा का चरित्र—कुम्भार—गोपियों के धर्मेन्द्र की भावुकता—राधा का मनस्ताप । ३९
- १३ यशोधरा—साकेत और यशोधरा की तुलना—यशोधरा का अनवरत कारण—पत्नीरूप और मातृरूप

का दून्द-यशोधरा और उर्मिला का
कारण्य-यशोधरा का चरित्र, आत्मा-
मिमान-उसके मनोवैज्ञानिक उद्गार-
मूर्छों का निरूपण-राहुल का कथा-
नक में स्थान-मिहार्थ ।

४९

- १३ साकेत-काव्यजगत् की उपेक्षिता उर्मिला-
राम और सीता के प्रति पक्षपात-
राम का स्वरूप गुप्तत्री और 'हरि-
और'जीकेभनुमार-राम का चरित्र-
सीता का चरित्र-जंगल में मंगल-
कैश्री के काव्यशरीर के पंक का
प्रशङ्कन-उर्मिला का धर्माभूत
कारण्य, विद्विप्त मनोवृत्ति-यशोधरा
और उर्मिला, अतिरदन-दशरथ का
स्नेह-भरत और मान्दवी ।

५९

- १४ सिद्धराज-कथास्तु-सिद्धराज के चरित्र
में धीर रम की परिणति कारण्य में-
अन्य पात्र ।

६०

- १५ नहुष-कथास्तु-नहुष का सकरण पतन-
आत्माशक्ति ।

९१

- १६ शक्ति-संक्षिप्त कथानक-उसका कारण्य-
शक्ति और संगठन का संदेश ।

१०१

द्वितीय खंड : स्फुट काव्य ।

- १८ भारत-भारती—तीन समस्याएँ—तीन खंड—
वर्तमान खंडकी अमर्द काव्य-प्राप्त-
स्थलों में हास्य और करुण का सम-
न्वय-भविष्य का उज्ज्वल चित्र । १०७
- १९ स्वदेश-संगीत—संप्रह-भारत-भारती से
तुलना-कवि की आत्मिक भावना—
तृतीयपक्ष-नवीन और प्राचीन का
समन्वय-कवि की राष्ट्रीय भावना (?) । १२०
- २० मंगल-घट—मंथन की मजुरी वृत्ति—
काव्यकल्पित कविताएँ और उनकी
आलोचना । १२८
- २१ पञ्चावली—पत्रों की संक्षिप्त चर्चा और
उनका अन्तर्निहित काव्य । १३६
- २२ हिन्दू—उपदेशक गुप्तर्षी और कण्ठहार
गुप्तर्षी-हिन्दू की तीन भावनाएँ—
हमारा 'अतिरिक्त कर्त्तव्य'—मकरन्द
पत्र । १४५
- २३ चैतालिक—भारतीयों का उद्बोधन-करा-
वन्तु का विश्लेषण-कवि का मान्य चित्र । १४९

तृतीय खंड : 'शंकार' और गुप्तजी की छायावादिता ।

२४ शंकार—इसकी विशेषता—छायावादी प्रवृ-

त्तियों—(क) भाषा की रहस्यमयता;

(ख) माधुर्यभाव—भरित भगवद्भक्ति;

(ग) माधुर्यभाव में विग्रहण की

प्रबलता, (घ) छन्दों की निर्वन्धता ।

१५७

चतुर्थ खंड : नाटक ।

२५ तिलोत्तमा—कथानक का विस्तरेण—सुंद,

उपसुंद की संरक्षण मृत्यु का कला-

त्मक चित्रण और उसके संदेश ।

२६ अनघ—जानक-साहित्य-कान्य के भायक

मघ की सेवाभावना—बटवाचन—

विषाद की व्यापक अन्तर्धारा—मघ

की अनुकम्पा—रानी, मघ की माँ

और सुरभि ।

१९४

२७ चन्द्रहास—कथास्तु—पंचमांक की विशेष-

ता—पृष्ठभूमि का मनोवैज्ञानिक

चित्रण—उसकी मनस्थिति, दानवता

पर मानवता की विजय की असर

कहानी—चन्द्रहास की दुर्दशाक

परिस्थिति ।

२०५

पंचम खंड : अनुवाद-ग्रंथ ।

- २८ पलासी का युद्ध-विरहिणी त्रजांगना-
मेघनाद-वध-श्यामला उमर
राज्याम-स्वप्नवासयदत्ता-इनका
समष्टिगत कारण्य ।

२१९

षष्ठ खंड : गुप्तीय भाव चित्रावली ।

चित्रों की संख्या—नव ।

२२०

गुप्तजी के काव्य
की
कारुण्य-धारा

कविवर मैथिलीशरण गुप्त उन इन्ने-गिने साहित्यिक महा-
 रथियों में से हैं जिन्होंने नवयुग की प्रगति के साथ कदम में
 कदम मिला कर चलने की चेष्टा की है। उनके काव्याकाश की
 शान्ध भरणिमा में प्राचीन और नवीन-दोनों सरणियाँ प्रति-
 फलित हैं। उनकी कविता की लड़ियों में भतीत और वत्तमान
 दोनों की कड़ियाँ जुड़ी हैं। श्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने 'नव-
 युगकाव्यविमर्ष' की भूमिका में लिखा है कि "द्विषेदी युग में
 जितने भी कवि खड़ी बोली के हुए उनमें से मैथिलीशरण गुप्त
 ही एक ऐसे कवि हैं जो सदैव समय के साथ रहे, और जिनके
 काव्य की प्रगति बलवती और नवीन वातावरण के अनुकूल रही"। *
 प्रस्तुत निबन्ध में गुप्तजी के काव्यों में जो कारुण्य की धारा
 प्रवाहित हो रही है उसकी समीक्षा की जायगी।

गुप्तजी की रचनाओं के मुख्यतः तीन विभाग होंगे:—

१ स्फुट रचनाएँ:—भारतभारती, मंगलघट, पत्रावली, पैतालिक, स्वदेशसंगीत, हिन्दू, शंकार आदि ।

२ नाटक:—चन्द्रहास, विलोत्तमा, अनघ, स्वप्नवासवदत्ता ।

३ प्रबन्धात्मक काव्य:—रंग मे भंग, जयद्रथवध, शकुंतला पंचवटी, सैरंधी, वक्र-संहार और वनवैभव की 'त्रिपथगा', किसान, विकट भट, गुरुकुल, द्वापर, यशोधरा, साकेत, नहुष, शक्ति ।

हम पहले प्रबन्धात्मक काव्यों की आलोचना से ही आरम्भ करें, क्योंकि प्रबन्धात्मक रचना में रस के परिपाक का जितना अवकाश मिल सकता है उतना स्फुट रचनाओं में नहीं। गुप्तजी का आरंभिक काव्य है 'रंग में भंग'। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसकी संक्षिप्त भूमिका में लिखा है कि—“जिस घटना के आधार पर यह कविता लिखी गई है वह ऐतिहासिक घटना है, कोरी कवि-रचना नहीं। वह जितनी ही कारुणिक है उतनी ही उपदेश-पूर्ण भी है”। द्विवेदीजी ने इस छोटे-से वाक्य में मानों गुप्तजी की भावुकता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-सा कर दिया है, क्योंकि 'रंग में भंग' ने उनकी उन तीन विशेषताओं का प्रतिनिधित्व किया है जो उनके प्रायः सभी काव्यों में परिलक्षित हैं। वे हैं:—

१. घटना को ऐतिहासिकता अथवा रसातलुत्तता;

२. कथानक की कारुणिकता; और—

३. शैली की सपदेशपूर्णता ।

इन तीन के अतिरिक्त उनकी दो और विशेषताएँ ध्यान में रखी जा सकती हैं—

४. आस्तिकभावना और धर्मपरायणता, तथा—

५. राष्ट्रीय और जातीय भावना तथा उसका पोषक वीर रस ।

‘रंग में भंग’ का भी आरंभ अवतार-रूप राम के प्रति प्रणाम के साथ होता है, और जहाँ-तहाँ मातृभूमि के प्रति प्रेमोद्गार का भी परिचय दिया गया है । सदाहरणतः अपनी मातृभूमि, धूँदी के अपमान को ध्यान में रख कर वीरवर कुम्भ बोल उठता है—

६

स्वर्ग में भी श्रेष्ठ जननी जन्मभूमि कही गयी

सेवनीया है सभी की वह महा महिमामयी

फिर अनादर क्या उसी का मैं खदा देखा कब ?

भीरु हूँ क्या मैं अहो ! जो मृत्यु से मन में डरूँ ?

किन्तु आस्तिकभावना अथवा राष्ट्रीयभावनाभरित वीरता—दोनों की परिणति करुण रस में ही हुई है । कथानक का मुख्यांश संक्षेप में यह है कि धूँदी के नृप बरसिह के अनुज लालसिंह की कन्या से चित्तौर के सीसोदिया राजा श्वेतल’ का

पाणिग्रहण संपन्न हुआ। विदाई के समय बातों-बात बात बिगड़ जाने से दोनों-अर्थात् वर और कन्या-पक्षों में घोर युद्ध होने लगा। परिणाम यह हुआ कि—

• वर समेत बरातियों ने वीरगति पाई वहाँ^१।

कन्या के वैवाहिक जीवन का सूर्य उदय भी न होने पाया था कि अस्त हो चला।

जानता था भंग होना कौन यों रस रंग का !

ध्यान था किसको अहो ! इस शोचनीय प्रसंग का ?

विधवा वधू ने अपने पति के शव के साथ अपने प्राणों की आहुति दे दी।

मिल गई चन्दन-चिता के ज्वाल-जालमोद में।

उपर्युक्त कथानक के क्रम से पाठक स्वतः इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गुप्तजी की प्रतिभा को किसी 'रंग में भंग' होने पर जो 'शोचनीय प्रसंग' उपस्थित होता है उसकी कठना प्यारी है। अन्तिम पद्य में उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है कि-

रुदन भी ऐसे समय में लगता बड़ा प्यारा हमें

हे हरे ! निर्मल करे यह नेत्र-जल-धारा हमें^२।

१ रंग में भंग पृ० १८।

२ „ पृ० १९।

३ „ पृ० २५।

किन्तु 'रंग में भंग' के कारण की विवेचना करते हुए हमें यह ध्यान में रखना होगा कि यह जीवन और सदाचार के उत्कर्ष का प्रतीक है, न कि उसके अपकर्ष का। गुमजी ने प्रायः जहाँ भी—मुख्यतः नारी-रूप का—सकल चित्रण किया है वहाँ उसे स्वार्थत्याग और वीरता की सुनहली तूलिका से सजाया है। निरुपद्रव जीवन और पतन का भी परिणाम करुणाजनक होता है, किन्तु जीवन का यह आदर्शहीन रूप गुमजी को नहीं भाता। क्योंकि वैसे दृशा में वे यह नहीं कह सकते कि—

धन्य है तू आर्य कन्ये ! धन्य तेरा धर्म है
देवि ! तू स्वर्गीय है, स्वर्गीय तेरा कर्म है ।

'रंग में भंग' में उस 'मानापमान के अतिरंजित दृष्टिकोण' की ओर भी संकेत है जिसने समय-समय पर भारतभूमि में खून की नदियाँ बहाई हैं।

गुप्तजी के एक दूसरे काव्य 'जयद्रथवध' की ओर दृष्टि-
 रात करें तो उसमें मुख्यतः तीन स्थल ऐसे हैं जो करुण-रस-के-
आलम्बन बताए जा सकते हैं:—

१. अभिमन्यु की वीरगति
२. उत्तरा का विलाप
३. जयद्रथ का वध

इनमें प्रथम दो का कारण तो जीवन का उत्कर्ष-विधायक है, किन्तु तृतीय का नहीं। अतः हमारे कवि ने प्रथम दो प्रसंगों का तो सहानुभूति और समवेदनापूर्ण चित्रण किया है, किन्तु तीसरे, अर्थात् जयद्रथ वध के प्रसंग को, न केवल 'भगवान की इच्छा' कह कर टाल ही दिया, प्रत्युत उसे घर्मराज और अर्जुन के 'सुर-संमिलन' का पृष्ठाधार भी बनाया। यह है गुप्तजी का आदर्शवाद। 'गिरीश' ने ठीक ही लिखा है कि उन्हें "मानव-

समाज के वर्ग-विशेष से विशेष सहानुभूति है, विशेष प्रेम है। उसीके दैन्य ने उनके हृदय में करुणा का संसार करके उनकी काव्यकला की सेवाओं का नियोजन किया है^१।" उत्तरा उस वर्गविशेष की पात्री है जिसके लिये कवि के हृदय में गौरव है। धीरे अभिमन्यु जिस समय अपनी प्रिया से बिदा लेता है वो वह यह कह कर अपने उदात्त चरित्र का परिचय देती है कि—

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—

सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिये जो आपही^२।

किन्तु तात्कालिक अपशकुनों को देखकर वह विकल हो उठती है, और—

हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही^३—

जैसी करुणपूर्ण पंक्ति में अपनी उस विकलता को व्यक्त करती है। इस प्रकार की विकलता उपर्युक्त उदात्त चरित्र के साथ मेल खाती है या नहीं इसकी विवृति हम अपने पाठकों पर ही छोड़ देते हैं। क्रमशः अभिमन्यु ने अकेले सप्त महारथियों से लड़ाई लड़ी, किन्तु—

इस भाँति पाँद वीर गति सौभद्र ने संग्राम में^४

१ गुप्तजी की काव्यधारा पृ० १९

२ अयदयवध पृ० २१

३ " पृ० ७

४ " पृ० ७

और—

“ शोक पाण्डव-पक्ष में सर्वत्र ऐसा छा गया
मानों अचानक सुखद जीवन-सार सर्व बिला गया ।

विशेषतः उत्तरा का विलाप बड़ा ही मर्मभेदी है । अतीत
सुखद स्मृतियों की कसक उसे और भी तीव्रतर बना देती है ।

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रंथि-बंधन साथ में ।

मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में ।

मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी

भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी ।

निर्जीव पति के प्रति ये 'मैं हूँ वही' की विधुर स्मृतियों से
पूर्ण रक्तियाँ कितनी कारुणिक हैं ! सुभद्रा, अर्जुन, कृष्ण, युधि-
ष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव—सबके हृदय से वीर अभिमन्यु
के निधन पर करुण-नन्दन की धाराएँ फूट चलीं । यहाँ तक कि

कृष्णा, सुभद्रा आदि को अवलोक कर रोते हुए

हरि के हृदय में भी वहाँ कुछ कुछ करुण-रस-कण चुपै ।

कवि-कल्पित करुण-रस के व्यापक प्रभाव से निर्विकार कृष्ण
भी अछूते नहीं रह सके ।

१ जयदयवध पृ० २१

२ " पृ० २५

३ " पृ० २४

‘शकुन्तला’ यद्यपि निरा पद्यात्मक प्रबंध है, तथापि कालिदास के ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ की छाया स्पष्ट दीखती है। कृष्ण-मृगानुसारी दुष्यन्त से ही इस छोटे-से काव्य का भी उपक्रम किया गया है। कवि ने कालिदास का ऋण स्वीकार भी किया है—

मृग के बदले मृगनयनी को वहाँ महीपति ने पाया
और यहाँ भी कालिदास ने श्रवण-मुधा-रस सरसाया^१।

हमें मानना पड़ेगा कि कालिदास कृत अभिनय का यह संक्षिप्त विधान (summary trial) करके गुप्तजी ने अपनी भाषना की सन्तुष्टि मले ही की हो, किन्तु कलात्मकता की दृष्टि से उन्हें सफलता नहीं मिली है। यदि आंशिक सफलता यत्र तत्र मिली

भी तो चन्ही प्रसंगों में जो सकरुण हैं। 'पत्र' शीर्षक में कवि ने जो दुष्यन्त और शकुन्तला की विकलता का वर्णन किया है वह मार्मिक है और कुंडलिया-की-सो शैली ने उसमें जान-सी फूँक दी है। उदाहरण:—

शकुन्तला की चाह में होकर अधिक अधीर
फिरते थे दुष्यन्त नृप मञ्जु मालिनी-तीर ।

मञ्जु मालिनी-तीर विरह के दुख के मारे
करते विविध विचार मिलन की आशा धारे ।

होती है ज्यों चाह दीन जन को कमला की
थी चिन्ता गंभीर चित्त में शकुन्तल्य की^१ ।

यदि पाठक इस काव्य को आरंभ से अन्त तक पढ़ जायें तो उन्हें पता चलेगा कि कवि की मधुरी श्रुति ने केवल करुणा के मकरन्द-विन्दुओं का ही चयन करके अपनी छोटी-सी शैली भर डाली है। प्रारंभिक दो तीन पृष्ठों के पश्चात् प्रायः सारा कथांश दुखद ही है और इसका परिचय हम उन क्रमिक शीर्षकों में ही पाते हैं जिनसे होकर काव्य की धारा प्रवाहित हुई है। यथा— पत्र, अवधि, अभिशाप, विदा, त्याग, स्मृति, कर्त्तव्य और मिलन । यह अन्तिम मिलन भी एक कारुणिक दृश्य है जिसमें राजा

अनुताप की भावना से कहता है—

अत करने ने बढ़ी अंग-कृत्यता बढ़ी
मिर पर उलझी हुई एक बेणी पड़ी ।

धून मरे तनु-बन्ध नस्त्रि से हो रहे
नू ने मेरे लिये हाथ ! ये दुख महे !

यह उस अपमानिता पत्नी से पैरों पर पड़ कर श्रमा मांगवा है किन्तु शकुन्तला यह कह कर राजा की आत्म-न्यायि का परिहार करती है कि—

उठो नाथ ! वह कुठ न तुम्हारा शोभ था
नुअ पर ही अज्ञात देव का शोभ था^१ ।

‘शकुन्तला’ के पढ़ने से ऐसा मालूम होता है मानों वह ‘यशोधरा’ का अरुणिम-अग्रदूत और प्राथमिक प्रतिनिधि हो। वैसे ‘यशोधरा’ में मिथार्य और गोपा के जीवन की माला में राष्ट्रल नध्यम भणि के समान पिरोया गया है, उन्ही प्रकार ‘शकुन्तला’ में भी सिंह-पोत से मिलवाइ करने वाला सूर्यदमन शकुन्तला के विरह-सागर-संतरण में पोत का काम करता है।

‘शकुन्तला’ में गुनड़ी की एक और विशिष्ट भावना की झलक है जो क्रमशः विकासोन्मुख हुई है—वह है नारी-सम्मान के

१ शकुन्तला पृ० ५३ ।

२ „ पृ० ५३ ।

प्रति कवि का पक्षपात । यह भावना अपने प्रष्ट रूप में यशोधरा में निम्बर आई है, जहाँ बुद्धदेव स्वयं उसके पास आकर झुकते हैं-

मानिनि ! मान नजो ले, रही तुम्हारी वान !
 दानिनि ! आया म्वयं द्वार पर यह बड़ तत्रमवान ।
 यदि मैंने निर्दयता की तो क्षमा करो प्रिय जान
 मैत्री-करुणा-पूर्ण आज मैं शुद्ध बुद्ध भगवान् ।

नारी-हृदय के प्रति इस पक्षपात, इस संमानना ने गुप्तजी की प्रायः सभी पात्रियों के चरित्र को चित्रित और आदर्श चित्रित करने के लिये उन्हें बाध्य किया है। अतः जब हम उन्हें विपत्तियों में प्रस्त देखते हैं, तो हमारे अन्तस्त्व की करुणा सजग और तीव्र हो जाती है। हमारी आशाओं और उनके बेमेल दुष्परिणामों में जितनी ही गहरी ग्राई होगी हमारी करुणा का स्रोत उतने ही उद्दाम रूप में उबलेगा। किसी आदर्श चरित्र को दुःख-मय परिस्थितियों में देख कर एक वैषम्य का अनुभव होता है। यह वैषम्य हमारी आशा की विफलता का प्रतीक है और आशा की विफलता ही करुणा की जननी है। 'अंकुन्तला' में हम गुप्तजी का अतीत के प्रति गौरव और वर्त्तमान के प्रति असन्तोष का जो भाव है उसे भी व्यक्त पाते हैं। यह लिखने के उपरान्त कि सर्वदमन ही का पञ्चाद्वर्ती नाम 'मरत' या और 'मरत' से

‘भारत’ नाम का जन्म हुआ, वे ‘भारत’ को संशोधन करके एक दर्दभरी वसाँस छोड़ कर काव्य समाप्त कर देते हैं—

भारत ! अब वह समय तुम्हें क्या याद है ?
 होता उसका कभी सहर्ष विषाद है ?
 वे दिन अब क्या तुम्हें मिलेंगे फिर अहो !
 इसका उत्तर ओर कौन देगा कही ?

यह सफ़र वसाँस ही ‘शकुन्तला’ की पूर्णाहुति होती है ।

‘पंचवटी’ के नायक लक्ष्मण हैं, और उन्हीं के चरित्र-विकास में रामचन्द्र, सीता, शूर्पणखा आदि के कथनोपकथन गायन के रूप में समाविष्ट किये गए हैं। लक्ष्मण का भी वही स्वरूप ‘पंचवटी’ में विकसित हुआ है जिसमें बनवास का कारुण्य प्रधान है। गुमती ने भले ही इस कारुण्य की काली साड़ी पर शस-परिहास के बेल-बूटे सजाए हों, किन्तु मुख्य वातावरण का विपाद पृष्ठाधार के रूप में बना ही रहता है। काव्य के आरंभ में ही कवि ने लक्ष्मण का जैसा सजीव वर्णन किया है उससे कहना की एक प्रतिमूर्ति आँखों के सामने खड़ी हो जाती है:—

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्णकुटीर बना
उसके समुत्त स्वच्छ शिला पर धीर, वीर, निर्भीकमना ।

जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है :
भोगी कुमुमायुष योगी-सा बना दृष्टिगत होता है^१।

अन्तिम पंक्ति में अनुप्रास की समता परिस्थितियों की विपमता को और भी प्रखर कर देती है। किन्तु क्रमशः यह विपमता पारस्परिक हास्य-विनोद में विस्मृत होने लगती है; कारण्य की परिणति शृङ्गार रस में होने लगती है, और शृङ्गार रस की परिणति हास्य रस में। अचानक रात्रि में यह 'हास्यवदनी बाळा' दूर्पणसा लक्ष्मण से प्रणय की भिक्षा मांगती है, और लक्ष्मण चकित-स्तम्भित-से उसे यह समझाना चाहते हैं कि—

हा ! नारी ! किस भ्रम में है तू

प्रेम नहीं यह तो है मोह^२। १८

('प्रेम' और 'मोह' की विशद विवेचना तो 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में देली जा सकती है)। याद-प्रतिवाद में हो रात बीत गई और—

इसी समय पी फटी पूर्व में

पलटा प्रकृति-फटी का रंग।

किरण-कंटकों से द्यागाम्बर

फटा, दिवा के दमके अंग।

१ पंचवटी पृ० ९।

२ " पृ० १५।

३ " पृ० १६।

सीता भी 'पंचवटी' को 'रंगभूमि' पर नए अभिनयारंभ के लिये प्रसुत हो गई और मामी-देवर के परस्पर परिहास के द्रव्य का पटोचोलाव हुआ। उन्होंने शट लक्ष्मण से प्रश्न किया—

कब से चलता है बोलो यह

नूतन शुक - रम्भा - संवाद :

फिर छठ रमणी से भी विनोद-वार्त्ताछाप किये—

अनी, स्निह तुम न हो, हमारे येदेवर हैं ऐसे ही

घर में व्याही वह छोड़कर यहाँ भाग आए हैं ये^१।

राम ने भी शूर्पणखा की प्रणय-वाचना की विनोदमय ही वपेक्षा की।

सारांश यह कि 'पंचवटी' में गुप्तकौ ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि काव्यनिक परिस्थितियों में भी आमोद प्रमोद की संशक्तिनी गहाई जा सकती है। कारण्य-चित्रण का यह भी एक प्रकार-विशेष है। शूर्पणखा के नाक-कात कटने पर कृत अपराश्रुत हुए और राम, लक्ष्मण, सीता के हृदय में कुछ आशंकाएँ हुईं, किन्तु इन आशंकाओं की धटाएँ छठने भी न पाई थी कि कवि ने उन्हें मुसकान की सुनहली किरणों से रँग दिया—

यह कह कर लक्ष्मण मुसकाए

रामचंद्र भी मुसकाए

१ पंचवटी पृ० ४०।

२ " पृ० ४१।

सीता मुसकाई, विनोद के—
पुनः प्रमोद-भाव छाए ।

‘पंचवटी’ में हृदय की विषादमयी अनुभूति पर विजय प्राप्त करने वाली आनन्दानुभूति का अमर संदेश अंकित है। इसके अतिरिक्त, भाभी-देवर-संबंध मैथिलीशरण गुप्त की काव्यगत दुर्बलताओं में से है। ‘पंचवटी’ में उनकी यह दुर्बलता अपनी प्रबलता पर है। लक्ष्मण और सीता के परंपरागत चरित्र-चित्रण में इस नए जमाने की भाभी-देवर-वाली परिहास-मनोवृत्ति का संक्रमण कहाँ तक न्याय्य है,—यह विचारणीय प्रश्न है। ‘नई मोतल में पुरानी मदिरा’ (Old wine in a new bottle) वाली अंग्रेजी कहावत याद आती है। फिर भी जहाँ जहाँ मौका मिला है, गुप्तजी इस भाभी-देवर-कांड के सृजन से बाज नहीं आए हैं। उदाहरणतः ‘सैरंगी’ में मुद्देय्या कीचक के अनुत्तर-दायी विनोद का तिरस्कार करती हुई कहती है—

.....
टहरो भैया ! ठीक नहीं इस भौंति ठोलो ।
भाभी है क्या यहाँ चिढ़े जो यह कहने से ?
औं विनोद हो तुम्हें विनोद-विषय रहने से !

१ पंचवटी पृ० ६५ ।

२ सैरंगी पृ० १० ।

तत्पर्य यह कि 'धामी' और 'ठठोली' ये दोनों भावनाएँ कवि के मस्तिष्क में लगभग समसामयिक रूप से जाग्रत होती हैं ।

प्राकृतिक दृश्यों के कुछ वर्णन तथा ललित शैली की दृष्टि से 'पंचवटी' का स्थान महत्त्वपूर्ण है । नारीरूप के प्रति पक्षपात यहाँ भी प्रगट है । छद्मज जघ शूर्पणखा से दर्पपूर्ण घातें करते हैं तो यह भी रोपभरे शब्दों में घोषित करती है—

तो क्या अबलाएँ सदैव ही

अबलाएँ हैं बेचारी !

नहीं जानते तुम कि देसकर

निष्कल अपेक्षा प्रेमाचार

होती है अबलाएँ कितनी

प्रबलाएँ अपमान विचार !

गुप्तजी के कवि-संसार की शायः सभी नारियों का अवतरण तो भबला के रूप में होता है किन्तु पुरुषों के तिरस्कार की चोट खाकर वही भबला प्रबला में परिवर्तित हो जाती है ।

‘वन-वैभव’ में पाण्डवों के यमवास की कथा है। इसका पूर्वार्ध कथन है, और उत्तरार्ध वीर। कवि पाण्डवों के अतीत वैभव को याद कर के उनके वर्तमान पराभव पर भाठ भाठ आँसू बहाता है—

आज पाण्डव यमवासी हैं
 पास वे दास न दासों हैं
 न योगी हैं, न विलसी हैं
 उदासी हैं सन्यासी हैं
 कहाँ वे विभव विर्लिन हुए !
 देशपति जो थे वे दीन हुए !

कारुण्य की यह अन्तर्धारा इस छोटी-सी कविता की केन्द्रीय

और व्यापिनो मानना है। इस कारुण्य के प्रतिकूल पृष्ठाधार पर जब उत्तरार्ध में दुर्योधन की शानोशीकृत का वर्णन आता है—

इधर कौरव दल गौरव धार
विपिन में करने लगा विहार
गँजने लगी गान-गुझार
नूपुरों की नय-नय शंकार
कहीं कुंजों में कीड़ा, भेंट
कहीं जलकेलि, कहीं आखेट'।—

तो पाण्डवों की दयनीय दशा के प्रति हमारी सहानुभूति और गहरी हो जाती है। किस भी सुखद परिस्थिति की दुःखद परिस्थिति कठणा का सहीपन होती है, और दोनों परिस्थितियों में जितना ही अधिक विषम्य होगा, कठणा जितनी ही मार्मिक होगी। वन-वैभव की कठणा की मार्मिकता का प्रथम आधार पाण्डवों की अतीत और वर्तमान परिस्थितियों की विषमता ही है। दूसरा आधार कवि का वह कलात्मक प्रतिपादन है जिसके द्वारा एक ओर तो पाण्डवों की वीन-हीन दशा और दूसरी ओर कौरवों का भोग-विलास विन्म-प्रतिविम्ब भाव से दर्शाए गए हैं। कठणा के काले बादलों में रसरंग की चपला की चमक, और रसरंग की चपला की चमक में कठणा के काले बादल—दोनों अपने प्रदाम रूप में निरंतर आए हैं।

विश्रम से कौरवों का युद्ध और उनका बन्दी होना और फिर भी वन पर युधिष्ठिर आदि का सद्भाव बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। दुर्घोषन की उस दुःखद परिस्थिति से युधिष्ठिर अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहते थे। उन्होंने अपनी अवस्था पर संक्षेप प्रकट करते हुए कहा—

राम ने राज्य विमल छोड़ा

उन्हें था वन में दुःख योड़ा ?

भरत ने भी निज मुख मोड़ा

धर्म-धन ही सवने जोड़ा

सहेंगे दुःख हम भी धर्मार्थ

८ पुण्य ही तो है परम पदार्थ ।

यदि केवल पाण्डवों-कौरवों की उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों के वैपश्य दिखाकर ही कवि चुप रह जावा तो हमारे आदर्श और आशाओं पर बड़े जोर का धक्का लगता। अतः कौरवों की वधादही का प्रतिशोध होना ही था। न्याय का पला भारी हुआ और कारुण्य का चक्र अपने संचालक के ही स्तर पर घूम आया। यह बात दूसरी है कि उदार अर्जुन ने गन्धर्व विश्रम से युद्धर के अपने अपकारी कौरव भाइयों को धन-मुक्त किया।

‘सैरंगी’ में यद्यपि क्रीचक और सैरंगी (श्रीपदी)—ये ही दो पात्र प्रधान हैं, किन्तु क्रीचक की यहन सुदेष्णा का भी समावेश करके कवि ने अपने मनोवैहाग्निक विश्लेषण ■ परिचय दिया है। वह अपने पापी माई के कार्य में बाधिका भी है, साधिका भी। नारीत्व के प्रति कवि के हृदय में जो पञ्चपाव है उसने सुदेष्णा को भी सुनहली तुलिका से चित्रित किया है। त्रौरशी की दशमीय दशा से अनुचित लाभ उठाने की कामना रखनेवाले क्रीचक से वह चेतावनी के रूप में कहती है कि—

सग पाण्डव भी होगे प्रकट

मही ठिरंगा पाप भी

सहना होगा इस राज्य को

जबल का अभिप्राय मो^१।

और साथ ही साथ पुनः-जाति पर कलंक के छोटें भी
बछालती है—

हम अवश्य तो एक ही की
होकर रहती हैं मदा
तुम पुण्यों को भी नहीं
होती है तृप्ति-प्रदा^१ ।

वर्षा प्रकार अन्यत्र—

मुन्दरता यदि विने ! वाम्ना उपजाती है
तो कुल-लज्जा हाथ ! उमें फिर क्यों पानी है
काव्य-रीति को प्रीति नाम नर उने है वम
कल-नृमि के^२ नित्यं लुप्त है प्रयत्न-रम^३ ।

ऐसी पंक्तियों को देख कर कभी कभी यह धारणा होने लगती
है कि स्त्रियों के प्रति अति-सहानुभूति के द्वारा कवि ने पुरुषों के
प्रति कहीं कहीं अन्याय भी किया है। संभवतः इसका कारण यह
भी हो सकता है कि अब तक पुरुषों ने स्त्रियों को पृष्ठभूमि में
रख कर जो अन्याय कर दिया है, उसके प्रतीकार के लिये, कवि
ने, स्त्रियों को अग्रभूमि (Forefront) में रखने की चेष्टा में,
पुरुषों को कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक पृष्ठभूमि (Back-
ground) में रख छोड़ा है ।

१ गीतिका पृ० १६ ।

२ " पृ० १६ ।

सुदेष्णा के अतिरिक्त जो दो मुख्य पात्र हैं, वे हैं—कीचक और द्रौपदी । इनमें द्रौपदी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिये कवि ने वसकी असहाय्यता के कारुण्य-पट पर ही कीचक की पाशवी वृत्ति का चित्र खींचा है । किन्तु साथ ही साथ हमें याद रहे कि गुप्तजी का नारीरूप अपनी असहाय्यता में भी अपने आत्मसम्मान की तिलांजलि नहीं देता । इसीलिये तो सुदेष्णा ने कहा था—

सहना होगा इस राज्य को
अबला का अभिशाप भी^१ ।

अबला द्रौपदी जय, अपनी इच्छा के विरुद्ध भी, पापी कीचक को चित्र देने जाती है तो उसे विश्वास है कि—

पापीजन का पाप उसी का भक्षक होगा
मेरा तो ध्रुव धर्म सहायक रक्षक होगा^२ ।

अतः जब कीचक ने वसका हाथ पकड़ ही लिया तो वसका मर्दित आत्मसम्मान बालामुखी के समान जाग पड़ा और—

आहा ! अब हो उठी अचानक वह हुंकारित
ताव-पेंच स्वा बनी कालघण्टिनी पुंकारित^३ ।

कथानक के अन्त में यह बताया गया है कि अपने मिलन-मनोरथ पर सवार होकर जय कीचक द्रौपदी-वेप में प्रच्छन्न

१ ऐंजी पृ० १६ ।

२ " पृ० ३२ ।

३ " पृ० ३५ ।

भीम का आलिंगन करता है तो वही आलिंगन उसे अनन्त से मिटा देता है। द्रौपदी के कारुण्य का निर्यात कीचक को अपने घोरतर कारुण्य से देना पड़ता है।

इस स्थल पर यह जान लेना चाहिये कि कारुण्य के संघर्ष में पाश्चात्य और पूर्वीय दृष्टिकोणों में एक भेद है। यह यह कि पश्चिम में 'ओथेलो' जैसे दुग्गन्त कथानक भी पाए जाते हैं जिनमें नायक-नायिका के अर्मान अन्त तक अचूरे ही रह जाते हैं। इसका एक कारण यह है कि कृश्चियन धर्म में पृथ जन्म पर विश्वास नहीं है और कर्म और उसके फल के संबंध में कोई निर्णीत कार्य-कारण संबंध की भावना नहीं है। अतः नायक अथवा नायिका का—उन्के सट्टणों के होते हुए भी—दुःखद अन्त पश्चिमीयों को खटकता नहीं है। दूसरा कारण यह है कि पाश्चात्य सभ्यता मुख्यतः भौतिकवादी (Materialistic) है; अतः भौतिकवादा का सहचर निराशावाद भी उसके माथ लगा रहता है। इसके विपरीत पूर्वीय अथवा भारतीय आर्य धर्म में पुनर्जन्म और कर्मव्यवस्था ने गहरी जड़ पकड़ ली है, अतः उसके साहित्य में सद्गुणसम्पन्न नायक अथवा नायिका के जीवन का अन्तिम परिणाम यदि दुःखद कल्पित किया जाय, तो इससे वह हिल उठेगी। अतः हमारे नाटक प्रायः सदा सुप्रान्तक होते हैं, हमारे साहित्य प्रायः आशावादी होते चले आए हैं। न्याय अपना प्रतिशोध लेकर ही दम लेता है।

‘निपथगा’ की एक सीसरी धारी का नाम है ‘बक-संहार’। ‘सैरन्ग्री’ और ‘वन-वैभव’ के समान ‘बक-संहार’ की भी कथा-वस्तु ‘महाभारत’ से ली गई है। यद्यपि इस छोटे-से ग्रंथ का नाम बक-संहार रक्खा गया है, फिर भी बक के संहार का भवसर आते भाते काव्य ही समाप्त हो जाता है। बकासुर को प्रत्येक परिवार अपना एक सदस्य भक्षणार्थ भेजा करता था। उस दिन ब्राह्मण परिचार की बारी थी। मौत से खेलना था। पति, स्त्री, कन्या सबों में होड़ लगी थी। बड़ा ही करुणाजनक दृश्य था। पाठक ब्राह्मण की निम्नलिखित उक्ति पर ध्यान दें कि उसमें काश्यप का कितना उदात्त और सन्तोषमय रूप प्रस्तुत किया गया है। वह कहता है—

संसार में देखो जहाँ
 सबके विरोधी गुण वहाँ
 जल का अनल ज्यों, त्यों अनल का शत्रु जल
 फिर मृत्यु का ही क्या कहें
 कोई विरोधी गुण नहीं ?
 मेरे मरण का शत्रु है जीवन अटल ।

उसका जीवन आज उसके मरण का दुश्मन बना बैठा है ।
 कितनी तीव्र और सूक्ष्म वेदना भरी है उस ब्राह्मण के दिल में !
 ब्राह्मण परिवार की गंगोतरी से निकली हुई करुणा की यह गंगा
 कुन्ती के हृदय-प्रदेश में संक्रान्त हुई और बक का संहार हुआ ।
 ब्राह्मण के प्रति प्रतिज्ञायुक्त हो चुकने पर बकासुर के यहाँ अपने
 पुत्र को भेजने के अघसर पर, कर्त्तव्य और वात्सल्य के बीच जो
 अन्तर्द्वन्द्व कुन्ती के मातृ-हृदय में हुआ, उसका सुन्दर मनोवैज्ञा-
 निक चित्रण कवि ने किया है—

कर्त्तव्य कुन्ती कर चुकी
 वह विप्र-विपदा हर चुकी
 वात्सल्यवश अब हो उठी विचलित वही
 जो धी शिला सी निश्चला
 अब रूँध गया उमका गला ।

सात्पर्यं मह कि 'सौरन्त्री', 'वन-वैभव' अथवा 'घक-संहार'—
इन तीनों की इस 'त्रिपथगा' में करुणा का जल ही अन्तर्धारा के
रूप में प्रवाहित होता है।

एको रसः करुणश्च, निमित्तमेदाद्
मित्रः, पृथक् पृथग्विवाश्रयते विवर्तान्^१।

अन्तिम वाणी से पल पल में
 निज ओणित से लिखवा कर
 हे भारत ! मरने के पहले
 यह तेरा किसान सैनिक
 तुझे दिये जाता है पहले
 आत्मचरित ही चिर दिनिक ।

अच्छा होता यदि कवि ने किसान के जीवन का भी अन्त
 फिजी में ही कर दिया होता । वैसी दशा में—

राजमक्ति सर्वत्र हमारी रही सदा से ही विख्यात
 उसे दिखाने का श्रुम अवसर यही मुझे होता है ज्ञाते ।

—आदि ऐसी मनोवृत्तियों के प्रदर्शन का अवसर नहीं होता
 जिनमें न तो धीप्र कारुण्यता ही है, न सत्वी कलात्मकता, न है
 जिनमें अनुभूति की समता ।

‘विकट भट’ लगभग सोलह पृष्ठों की एक छोटी-सी ओज-स्थिती कहानी है। मुख्य रस हैं वीर और कृष्ण। किन्तु व्यापक रूप से कृष्ण ही सर्वत्र विराजमान है। वीर रस समय समय पर उठनेवाली तरंगों के समान आया और चला गया है। जोधपुर महाराज के सरदार देवीसिंह को आत्मसम्मान का मूल्य अपने प्राणों से देना पड़ा। उनका पुत्र भी महाराज की क्रोधाग्नि की शलि हुआ। शेष बचा उनका बारह वर्ष का पौत्र सवाईसिंह। जब दरबार से उसकी भी बुलाहट हुई तो विधवा माता आँसुओं से भीगती हुई बोली—

वत्स ! जाने में भी मुझे क्षेम नहीं दीखता
समुर गए हैं और स्वामी गए साथ ही
मेरे लाल तू भी चला, कैसे घरूँ धैर्य मैं ?

क्षण ही मैं उस क्षत्राणो की यह विकलता आती रही और धैर्य के साथ उसने कहा—

रोने तक का भी अवकाश मुझे नहीं
तो भी आन बान बिना जीना मरना ही है
तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूँ तब
किन्तु मानहीन देखा जायगा न मुझसे^१ !

फिर भी उसे बिदा देने के समय—

करुणा से कंठ भर आया ठुरानी का
जाकर अंधेरी एक कोठरी में बेग से
पृथ्वी में लोट वह रोई बाढ़ मार के
व्योम की अभी छाती पर होने लगी लीक-सी^२ !

यद्यपि इस काव्य का अन्त सुखद है क्योंकि जोधपुर महाराज ने बालक की वीरता से प्रसन्न होकर उसे गले से लगा लिया और स्नेहपूर्वक उसे अपना सरदार बना लिया, ती भी इसके सुन्दर कलात्मक तथा मनोवैज्ञानिक स्थल वे ही हैं जहाँ पर करुण प्रसंगों का वर्णन है। यथा—विधवा माता से सवाईसिंह की बिदाई।

१ विष्ट मट पृ० १।

२ " पृ० ५।

‘गुरुकुल’ के अवतरण-भाग में कवि ने यह घतलाया है कि
गुरु नानक के आविर्भावकाल में—

आर्त-अधीन हुआ था भारत •

अति कराल था संकट काल

क्योंकि—

छाया था सब ओर यहाँ पर

उद्धत यवनों का आतंक

देख धर्म पर दारुण संकट

रहते थे सब समय सशंक^१ ।

तात्पर्य यह कि इस काव्य की सारी कथावस्तु का प्रमाण
हमारी कारुण्य-कलित तत्कालीन दीन दशा ही बतलाई गई है ।
इसके पश्चात् क्रमशः गुरु नानक, अंगद, अमरदाम, रामदाम

भर्जुन, हरगोविन्द, हरराय, हरिकृष्ण, तेगबहादुर, और गुरु-
गोविन्द सिंह के जीवनवृत्तों का वर्णन है। अन्त में घन्टा घैरागी,
तथा परिशिष्ट में पञ्चाद्वर्ती सिक्ख वीर, के भी वर्णन आए हैं।
इन वर्णनों में मुख्य रस है वीर, जिसकी विशेषता है स्वडिदान,
जो अपने चरकट रूप में प्रथम प्रथम गुरु भर्जुन के जीवन में
प्रमाणित हुई—

गुरु भर्जुन ने निज बलि देकर
मानों किया शिला-विन्यास
चुना मित्रों ने उस पर अपना
अम्यर-चुम्बी कीर्ति-निवास^१।

गुरु भर्जुन के पञ्चपञ्च गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह
के चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। लगभग आधी कविता तो गुरु
गोविन्दसिंह पर ही केन्द्रित है। गुरु गोविन्दसिंह के जीवन-
वृत्त में भी वह अंश बहुत मार्मिक है जिसमें दीवारों में घुने
जाते हुए पत्थरों के सुर से भी यही निकलता है कि—

तुम्हारे फलों, फेंके छोड़ें हम
परम्परागत निज संस्कार ?
स्वयं हमारे दादा जो ने
मिर दे डाला दिया न सार^२।

^१ गुरुडल पृ० ३५।

^२ " पृ० १६५।

यद्यपि इस प्रसंग की वीरता प्रशंसनीय है, किन्तु फिर भी इसमें मार्मिकता का आधान करती है हमारी कारुण्यभावना जो उन शिशुओं के शिशुत्व पर चन्द्रिक्त हो चठती है। कारुण्य वीररस का सहीपन बन जाता है और वीर कारुण्य का।

कारुण्य की दृष्टि से गुरु गोविन्द और वैरागी बंदा का संलाप भी ध्यान देने योग्य है। जब गुरु ने उसके विराग का कारण पूछा तो उसने बतलाया कि—

गुरो ! तुम्हारा बन्दा हूँ मैं
इतना ही मेरा इतिहास
शान्त हुआ वीर-व्रत मेरा
' लेकर एक करुण निश्वास' !

इसकी व्याख्या करते हुए बंदा ने कहा कि वह पहले बहुत ही हिंस्र प्रकृति का था, किन्तु एक बार उसने शिकार में एक गर्भिणी हरिणी को मारा, जिसके पेट चीरने पर तीन छौने निकले। किन्तु—

मेरे शर से मरते मरते
बाली उसने मुझ पर दृष्टि
साली मेरे रोम - रोम में
नारव विष-विषाद की वृष्टि^१।

१ गुरुकुल पृ० १८१।

२ " पृ० १८२।

यही काव्यजिह्व दृश्य उसके सत्काल वैराग्य का कारण सिद्ध हुआ । इस प्रसंग को पढ़कर वाल्मीकि-वाली वह कथा घरबस याद आ जाती है जिसमें कौच-मिथुन में से एक की निर्देय हत्या उस मुनि की सुप्त प्रतिभा को जगृद्ध करने में समर्थ हुई थी । पंत ने संभवतः इसी आशय को लक्ष्य में रख कर लिखा है कि—

वियोगी होगा पहला फवि
आह से उपजा होगा गान
निरुल कर आँखों से चुप चाप
वही होगी फविता अनजान ।

कतग रस आपनों-दमूरे-हृदय को दक्षिण करके उसे आँसुओं के रूप में प्रवाहित कर देता है । अन्य रसों में इस क्षीकरण की बेगबती शक्ति उतनी मात्रा में नहीं रहती ।

एकाध को छोड़ कर अब तक के वर्णित काव्यों से महत्तर और महत्त्वपूर्ण है 'दापर' । कथाङ्क का मुख्य आधार है श्रीमद्भागवत । सैली बहुत कुछ 'यसोधरा' से मिलती-जुलती है । क्योंकि इसमें भी व्यक्तियों के नाम से ही शीर्षकों के नाम दिये हैं और कथाङ्क का प्रवाह आत्म-कथा के रूप में चलता है । इस काव्य में श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता, बलराम, ग्वाल-पाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, नंद, कुब्जा, उद्धव और गोपी-इन पर रचनाएँ हैं । पुरुष-पात्रों का चरित्र मुख्यतः वीररस-संयुक्त है, किन्तु स्त्री-पात्रियों की गाथा प्रायः सर्वत्र सकरुण है । इन स्त्री-पात्रियों में भी कवि की प्रतिभा को अत्यन्त अधिक प्रिय है विधृता । इस अज्ञातनाम्नी ब्राह्मण-वनिता को उसके पति ने भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन से बलपूर्वक 'विधृता' कर लिया अर्थात् रोक लिया । (कवि ने इसी कारण उसका 'विधृता' नाम कल्पित

किया है) । पति के हृदय में अविश्वास की भावना सजग हो गई; किन्तु उस नारी का हृदय शुद्ध था । उसे अपनी अप्रत्याश्या और पुरुषों के अत्याचारों पर खोम हुआ । वह धोल चढो—

अविधाय हा ! अविधाय ही
नारी के प्रति नर का
नर के तो सौ दोष क्षमा है
रगामी है वह घर का
उपजा किन्तु अविधायी नर
हाय ! तुम्हीं मे नारंग
जाया होकर जनना भी है
• नू ही पाप-पिदारी !

६५ ऊपर बतला चुके हैं कि गुमजी के हृदय में नारी-हृदय के प्रति पक्षपात है । और किन्हीं अंशों में यह न्याय्य भी है । अतः उनकी कविताओं में उपर्युक्त-जैसी चक्तियाँ बहुत हैं । बेचारी असहाय विधवा को इतना मनस्ताप हुआ कि उसने मृत्यु की शरण ली । उसके अन्तिम वाक्यों में बड़ी कातरता और दर्द भरे हैं । वे मानों कारुण्य की प्रविमूर्ति हैं । उसके मराठ मलार (Swan's song) के अंतिम चरण हैं—

जाना हूँ, जाना हूँ अब मैं
और नहीं रुक सकूँगी

इस अन्याय समझ मरूँ मैं
 कभी नहीं झुक सकती
 किन्तु आर्ष नारी ! तेरा है
 केवल एक ठिकाना
 चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर
 नहीं लौट कर आना^१ !

यशोदा के चरित्र में भी कवि ने कारुण्य का प्रचुर समावेश
 किया है। अपने छाड़ले को अपने हाथों से खोकर पकड़े तो
 उसके मातृ-हृदय में बड़ी विकलता होती है। किन्तु इस विकलता
 का पश्चाद्वर्ती रूप गंभीर हो जाता है और बड़ी शान्ति से वह
 भगवान से प्रार्थना करती है कि—

तेरा दिया राम सब पावें
 जैसा मैंने पाया^२ !

इन पंक्तियों के बार बार दुहराने में कवि ने बड़ी कलात्म-
 कता से काम लिया है और इस दृष्टि से हम उसकी पाश्चात्य
 कलाकार कवि टैनिसन (Tennyson) से तुलना कर सकते हैं
 - मधुर कल्पना की दृष्टि से कुब्जा का चरित्र प्रशंसनीय है।

जब उसकी सेवाओं ने श्रीकृष्ण को जीत लिया तब उनसे उसकी
भंगविकृति न देखी गई । फिर क्या था—

चापें कर से सिर संभाल कर
धर दायें से छोड़ी
किया मुझे उत्कर्षित उसने
शक्ति लगा कर छोड़ी
देव पर उद्यते, चरणों से
हँस कर इन्हें दबाया
मैं उठ गई और कूबड़ का
मैंने पना न पाया ।
चमक गई बिजली-सी भीतर
नस-नम चौक पड़ी थी
जन्म जन्म की कुब्जा क्षण में
सरला बनी खड़ी थी ।
चियुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर
मायावी मुमराया
हुआ नया निरपन्दन उर में
फट गई यह काया ।

यह सोचने की बात है कि कुञ्जा का सरला बनना उसके लिये कोई अमिश्रित विमृति नहीं थी। क्योंकि साथ ही साथ 'मायावी' की मुसकान ने उसके हृदय में घर कर लिया। अब तो वह कलित कल्पनाओं के झूले पर मंद मंद झूलने लगी। वह कहती है—

आई रात हुआ चन्द्रोदय
मैंने यही विचारा
वह शशि है, मैं निशि होऊँ या
वह तमिष, मैं तारा
हुआ प्रभात, और अरुणोदय
गँजी उर की अलिनी
उसी पूर्व की फटती पौर्णिमा
उसी हंस की नलिनी^१।

ये कल्पनाएँ मधुर भले ही हों किन्तु इनकी मधुरता के साथ अधूरी आकांक्षा अतृप्त तमन्नाएँ, दिल की कसक और टीस मिली हुई हैं। उस समय की कुञ्जा की मनोवृत्ति को प्रतीकरूप में हम रखना चाहें तो हम महादेवी वर्मा की वह पंक्ति रख सकते हैं जिसमें वे कहती हैं—

जग करुण - करुण मैं मधुर - मधुरे ! \ /

^१ दापर पृ० १४३।

^२ महादेवी वर्मा-ग्रामा पृ० १७३ (नीरजा)।

कवि ने गोपियों के वर्णन में भी बड़ी भावुकता से काम लिया है। उन्हें ऊधो का ध्यानयोग अपील नहीं करता—

ज्ञान - योग से हमें हमारा
प्रेम - वियोग भला है^१।

उनकी दयनीय स्थिति का निम्नलिखित चित्र अमर पंक्तियों में शुमार हो सकता है—

अहा ! गोपियों की यह गोष्ठी
वर्षा की ऊषा - सी
व्यस्त ससंभ्रम उठ दौड़े की
स्वलित ललित भूषा - सी
धम कर जो क्रम खोज रही हो
उस अमशील स्मृति - सी
एक अतर्कित स्वप्न देखकर
चकित चौकती धृति - सी
हो हो कर भी हुई न पूरी
ऐसी अमिलाषा - सी
कुछ अटकी आशा - सी, भटकी
भावुक की भाषा - सी^२ !

^१ हापर पृ० १६७।

^२ „ पृ० १५८-१५९।

मनोवैज्ञानिकता तथा औपम्य की सूक्ष्मता और नूतनता की दृष्टि से ये पंक्तियाँ किसी भी नवयुग के कवि की कृतियों से टकर ले सकती हैं ।

राधा० के भी निम्नलिखित मनस्ताप में हम एक कसक का अनुभव करते हैं—

सुख की ही संगिनी रहो मैं
 अपने उस प्रियतम की
 व्यथा विध-विषयक न तनिक भी
 बँध सकी निर्मम की
 उल्टा अपना दुःख लोक को
 मैंने दिया० सदा को
 उस भावुक का रस जितना था
 जूठा किया सदा को ।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन पंक्तियों को लिखते समय गुप्तजी को 'प्रियप्रवास' में विकसित राधा-चरित्र की याद आ गई हो । किन्तु जहाँ 'हरिऔध' की राधा इसका गर्व कर सकती है कि उसने प्रणय-यथ की पंथिनी होकर विश्व-विषयक व्यथा को पोंट लिया है, वहाँ गुप्तजी की राधा इस आदर्श को अपने पद्ल में दबाप ठिठक गई है ।

‘यशोधरा’ में भी हम कारण्य ही प्रधान पाते हैं। आरंभ से अन्त तक की गाथा कदना से सिद्धित है। ‘साकेत’ और ‘यशोधरा’ में यह अन्तर है कि ‘साकेत’ में आनन्दमय पूर्यरंग पर वियोग और विपाद का अभिनय रचा गया है। उर्मिला का अवतरणभाग तो सुखमय है—

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला
नाम है इसका उचित ही उर्मिला^१।

काव्य के प्रभात में तो उर्मिला-सौमित्रि के हास्य-विनोद की भरुणिमा यद्गीमनोहारिणी है; किन्तु जब इस मनोहारिणी भरुणिमा को आकस्मिक दुर्घटनाओं के घने घन आकर तिरोहित कर लेते हैं तो हमारे हृदय की समवेदना रोके नहीं रुकती। आनन्द-

गद्य प्रतिकूल पृष्ठाधार पर विपादमय चित्रण एक कला है, और गुप्तजी 'साकेत' में इस कला में पूर्णतया सफल हुए हैं।

इसके विपरीत 'यशोधरा' में विरक्ति और विपाद के अनुरूप पृष्ठाधार पर ही करुण-गाथा की भित्ति खड़ी की गई है। यदि गुप्तजी चाहते तो यहाँ भी गोपा-सिद्धार्थ का सुखद वैवाहिक जीवन चित्रित करके फिर आँसुओं का संसार सजाते; किन्तु ऐसा करना कवि ने उचित नहीं समझा। 'यशोधरा' के कारुण्य के अतयरत प्रवाह के साथ कवि ने छेड़छाड़ करना नहीं चाहा है। यदि यशोधरा के पूर्ववृत्त का कहीं हमें संकेत मिलता है, तो उन पंक्तियों में, जहाँ वह कहती है—

आली, बही बात हुई, भय जिसका था मुझे।

यदि 'यशोधरा' में एक और अध्याय पहले जुड़ा होता और वहाँ पर अज्ञात रूप से भावी दुःखद परिस्थिति का संकेत होता तो उसमें 'अज्ञात आश्चर्य की आनन्दानुभूति' (Dramatic Irony) मिलती। किन्तु बात यह है कि 'यशोधरा' में कवि ने करुणा की एकमात्र धारा प्रवाहित करनी ही उचित समझी है। इस काव्य का निष्कर्षवाक्य—

अबल-जीवन ! हाय तुम्हारी यही कहानी

आँचल में है दूध और आँखों में पानी—

यही घोषित करता है कि कवि को वियोगिनी अबला के

पत्नीरूप और मातृरूप की द्वन्द्वमयी कठिन साधना की अभिव्यक्ति ही अभिप्रेत थी ।

‘साकेत’ और ‘यशोधरा’ के कारुण्य-चित्रण में एक दूसरा अन्तर यह भी है कि यशोधरा का कारुण्य चर्मिला के कारुण्य से अधिक घनीभूत और उदात्त है । चर्मिला को तो वनवास की अवधि ज्ञात थी, किन्तु यशोधरा की विरह-की-रात अनन्त थी । चर्मिला के ऊपर लक्ष्मण ने कोई अन्याय नहीं किया था; उसके प्रति कोई तिरस्कार की भावना नहीं थी, किन्तु यशोधरा को उसके पति ने अवमानित किया था, उसके आत्म-सम्मान पर प्रचल आघात पहुँचाया था—

सिद्धि-हेतु ट्यामी गए, यह गौरव की बात
पर चोरी चोरी गए, यही बड़ी व्याघात^१ ।

यदि नारीत्व की निर्वलता में भी सबलता का आधान, उसकी कोमलता में भी कठोरता का संधान, उसके आत्मसमर्पण में भी आत्माभिमान का विधान गुप्तजी को इष्ट है, तो इस दृष्टि से यशोधरा के चित्रण में चर्मिला के चित्रण की अपेक्षा अधिक कलात्मकता लाभ की है उन्होंने ने ।

अब कठोर हो यज्ञादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी ।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी^२ !

१ यशोधरा पृ० ४२ ।

२ " ७० ४२ ।

इन पंक्तियों में यशोधरा के चरित्र में जो विषम व्याघातों का समन्वय किया गया है उसकी ओर संकेत है। यशोधरा को क्षोभ यह है कि उसके पति ने उसे मोम की प्रतिमा ही समझ लिया। उन्हें मालूम होना चाहिये था कि इस मोम की प्रतिमा में एक अयस्कान्त-निर्मित क्षत्राणी छिपी हुई थी जो यह कह सकती थी कि—

स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में

प्रियतम को प्राणों के पण में

हमी मेज देती हूँ रण में

क्षात्र - धर्म के नाते^१।

‘अमृत-पुत्र’ बुद्ध ने नारी को सिद्धि-मार्ग की बाधा मान कर मानों संपूर्ण नारीत्व पर एक कलंक का टीका लगाया; किन्तु यशोधरा वह नारी नहीं है जो कलंक के इस टीके को अपने माथे पर हँसी-खुशी लगाए रहे। वह यह कबूल नहीं कर सकती कि केवल पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी है, और न यही कि मोक्ष गार्हस्थ्य के परे जंगल में ही मिला करता है। यशोधरा की सन्तो-वृत्ति में और उसके विरह के कथानक में गुप्तजी ने कर्मयोग का एक सिद्धान्त-पथ भी रक्खा है—यह यह कि संसार में रहते हुए भी, गार्हस्थ्य-जीवन धरतते हुए भी, स्त्री-पुरुष मोक्ष के भागी हों

सरुते हैं; और न हो सकें तो ऐसे मोक्ष से गार्हस्थ्य का कर्त्तव्य-
बंधन ही श्रेयस्कर है—

निज बंधन को संबंध सयत्न बनाऊँ ।

कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ॥^१

वह तो अपने पति को भी अपने ही पथ का पथिक बनाने
के लिये आमन्त्रित करती है जिसमें दोनों मिलकर 'इस भव में
भाव-विभाव' भर दें और संसार के लिये अपने को न्यौछावर
कर दें ।

आओ प्रिय ! भव में भाव-विभाव भरें हम ।

.....६:.....

संसार हेतु जत धार सहर्ष करें हम !^२

करुणाजनक परिस्थितियों में भी अपनी नारी-पात्रियों के
तारमाभिमान की रक्षा गुप्तजी के काव्य-कळा की विशेषता है ।
शोधरा ने निश्चय कर लिया है कि यदि उसका प्रेम प्रयत्न है,
यदि उसका सतीत्व अश्रुण्ण है, तो उसके पति को भी अपनी
भूल का प्रायश्चित्त करना ही होगा । सम्भव है भावुक हृदय को
यशोधरा की इस मनोवृत्ति में धृष्टता की गंध जान पड़े । किन्तु ,

१ यशोधरा पृ० १४८ ।

२ = पृ० १५१ ।

यदि यह धृष्टता है भी, तो विनय अथवा भक्ति की धृष्टता है। यशोधरा की नजरों में प्रेम अथवा भक्ति अन्योन्याभ्रय होना चाहिये। केवल भक्त ही भगवान के पीछे दौड़ा करे और भगवान के कानों जूँ तक नहीं रेंगे—ऐसी भक्ति-परम्परा में उसे विश्वास नहीं। जिस प्रकार एक पाश्चात्य कवि ने लिखा है

भक्ति उड़ाती है मानस को
जब ऊँचे की ओर
तब भगवान स्वयं आ मिलते
खिंचे प्रेम की डोह। *—

इसी प्रकार यशोधरा भी चट्टोपित करती है कि—

भक्त नहीं जाते कहीं आते हैं भगवान
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान।

.....

उन्हें समर्पित कर दिये यदि मैंने सब काम
तो आँवेंगे एक दिन निश्चय मेरे राम।

यहीं, इसी आँगन में।^१

फलतः सिद्धार्थ के घर छोटने पर भी यशोधरा उनके स्वागत के लिये जाने से इनकार कर देती है; और जब राजमाता महा-

* Devotion wafts the mind above,
And Heaven itself descends in love.

^१ यशोधरा पृ० ४६।

प्रजापति उससे यह पूछती है कि उसके वहाँ जाने में कौन-सी बाधा है तो उस समय उसके हृदय से चोट-खाई-हुई नागिन-को-कुप-कार-जैसे जो स्रटार निकले हैं वे मनोवैहानिकता की दृष्टि से साहित्य की अमर सम्पत्ति गिने जायेंगे ।

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी !
 बिन भी यही है, जहां जाने से जगत् में
 कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
 फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुए
 जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
 बैठी रहती मैं ! दान दारुनी धरित्री को ।
 मिहनी-सी काननी में, योगिनी-सी शैलों में,
 शरूरी-सी जल में, विहंगिनी-सी व्योम में
 जाती तभी और उन्हें खोजकर लानी मैं !
 मेरा सुधा-मिन्तु मेरे सामने ही आज तो
 रुहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी,
 प्यनी मानी हूँ ! हाव ! इतना अमान्य भी
 भव में किमी का हुआ ? कोई कहीं जाना हो,
 तो मुझे बना दे हा ! बना दे हा ! बना दे हा !

इतना कहते-कहते यशोधरा मूर्छित हो जाती है। सहृदय पाठक सहज ही अनुभव कर सकते हैं कि यह मूर्छा गोपा की दस

नाजुक मानसिक परिस्थिति को चरम सीमा थी जिसमें उसके आत्म-गौरव की भावना और विरह-वैधुर्य की अपार वेदना के बीच घनघोर अन्तर्द्वन्द्व छिड़ा था । स्वाभिमानिनी यशोधरा जाय तो कैसे ! और विरह-विधुरा यशोधरा न जाय तो कैसे ! उसकी मूर्छा इसी मानसिक विप्लव के विह्वल का प्रतिमूर्चरूप है, इसी के आवरण में उसके व्यक्तित्व का अतीत इतिहास छिप-सा गया । अन्यो के साथ वह स्वागत के लिये भले ही न गई हो, उसका शरीर भले ही जहाँ का तहाँ रह गया, किन्तु उसकी आत्मा लटक कर अपने पतिदेव का स्वागत करती ही है ।

पर मैं स्वागत-गान करूँगी,

पाद-यज्ञ-मधु-भान करूँगी ^१ ।

ऐसी विषम परिस्थिति में भगवान् बुद्धदेव स्वयं गोपा के समीप आकर मानों अपने रखलित का प्रायश्चित्त करते हैं और सती गोपा के आत्म-गौरव की रक्षा करते हैं ।

मानिनि ! मान तजो, लो,

रही तुम्हारी बान ^२ !

भगवान् बुद्ध के इस उदार आत्म-समर्पण और अवनमन से सती गोपा का हृदय पिघल पठता है और प्रति-समर्पण की

१ यशोधरा पृ० १८१ ।

२ " पृ० २०७ ।

भावना से षोड छठता है—

पधारो भव भव के भगवान !
 रख लो मेरो लज्जा तुमने, आओ अब भवान !
 नाथ, विजय है यही तुम्हारी,
 दिया तुच्छ को गौरव भारी ।

.....

होकर महा महान^१ !

गुप्तजी ने 'गर्बिणी गोपा' और 'शुद्ध बुद्ध भगवान' के इस अपूर्व संमिलन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि करुणाजनक परिस्थिति में भी स्वत्वाभिमान की रक्षा की जा सकती है और प्रेम के राज्य में विजय और पराजय की केवळ सापेक्ष सार्थकता है। गोपा की विजय में गोपा की पराजय भी निहित है और बुद्ध भगवान की पराजय में बुद्ध भगवान की विजय भी। जैसा एक दूसरे प्रसंग में ('साकेत' में) कवि ने स्वयं लिखा है—

प्रेमियों का प्रेम गीतार्तन है ।
 हार में जिसमें परस्पर जीत है^२ ।

१ दशोपरा पृ० २०८ ।

२ साकेत पृ० १० ।

राहुल का कथानक की माला में पिरोया जाना गुप्तजी की भावुकता की मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है। राहुल के चरित्र के मध्य बिन्दु पर केन्द्रित हो कर यशोधरा के पत्नीरूप और मातृरूप के बीच एक अन्तर्द्वन्द्व, एक कश्मकश, एक 'टग-आफ-वार'-सा (Tug of war) छिड़ा हुआ है। विरहविकला पत्नी यशोधरा के संमुख जब 'मरण' 'सुन्दर' बन कर आता है तो उसका जननी-हृदय उसके मार्ग में कँडे बिछा देता है और वह लौट कर चला जाता है। कर्तव्यभावना निरी भावुकता पर विजयिनी होती है। उसके जीवन-प्रांगण में सुख-दुख आँखमिचौनी खेलने लगते हैं, हँसने और रोने की सीमान्तरेखा विलुप्त हो जाती है। ●

राहुल कहता है—

गाती है मेरे लिये, रोती उनके अर्थ
हम दोनों के बीच तू पागल-सी असमर्थ
रोना गाना बस यही जीवन के दो अंग
एक संग में ले रही दोनों का रसरंग

माँ भी स्वर में स्वर मिला कर बोलती है—

रुदन का हँसना ही तो गान
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान

यह 'रुदन का हँसना ही तो गान'-वाली अवस्था निरी
अनवरत रुदनावस्था से वहीं अधिक मार्मिक और सफरुण
है। एक पग और—फिर बाबलापन और बेसुधी ! रुदन
की यह हँसी, रोती हुई हृत्तन्त्री की यह तान सांनिपातिक हँसी
और सांनिपातिक गान है। फिर भी यशोधरा ने जिस धीरता के
साथ विरह-सागर का संतरण किया वह सराहनीय है। यशोधरा
की इस धीरता को ओर संकेत करते हुए 'गिरिश' ने
लिखा है कि—

“वास्तव में सच बात तो यह है कि चर्मिळा के आँसुओं
पर यशोधरा की अधिकार होना चाहिये था, और यशो-
धरा की उस कल्पना और उस अनुभूति चर्मिळा को मिलनी
चाहिये थी”^१।

‘यशोधरा’ के नायक सिद्धार्थ गौतम की मनोवृत्ति में
भी जो क्रांति हुई, और जिसके चित्रण से काव्य का
आरंभ होता है, उसका आधार काव्य ही है। युवक
राजकुमार सिद्धार्थ ने शिथिल और जराजीर्ण शरीर की
निःसहाय अवस्था देखी, और सोचा—क्या इस कांचन की-
सी तदणी यशोधरा की दमकती युति भी इसी तरह मिट्टी में
मिल आयगी ! क्या इस जरा से बचने का कोई उपाय नहीं !
क्या सौन्दर्य के सारे हरे भरे उपवन इसी तरह सूख जायेंगे !

भावुक हृदय सिद्धार्थ के मानस-पटल पर जरा की कादजिकता एक अमिट छाप छोड़ गई, और छोड़ गई एक तीव्र कसक ।

इसी प्रकार अपने राज भवन की चहारदिवारी से निकल कर राजकुमार ने विषम व्याधि-ग्रस्तों को चीखते कराहते पाया । युवक ने अपने मन से पूछा—क्या इन रोगों पर मानव विजयी नहीं हो सकता ! क्या यह अनायास ही इनके सामने बलि का बकरा बन जाय ! रोगियों की कठणाजनक परिस्थिति सिद्धार्थ के मानस-पटल पर अमिट छाप छोड़ गई, और छोड़ गई एक तीव्र कसक !

इसी प्रकार एक तीसरे अवसर पर मृत्यु का दर्द-नाक दृश्य ! गौतम ने सोचा—क्या मेरा सारा भविष्य मेरे सारे भरमानों को बदल में दबाए हुए इसी तरह काले घावक के पकड़ी झोंके से तिमिराच्छन्न हो जायगा ! क्या इस नश्वर शरीर से परे कोई सत्ता नहीं ! क्या इस संसार के सभीपट इसी तरह रन्ध्रपूर्ण हैं ! यम की दुर्दमनीय नृशंसता और उसके सामने बड़ी से बड़ी मानव विभूतियों की अवशता गौतम के फोगल पित्त पर एक अमिट छाप छोड़ गई, और छोड़ गई एक तीव्र कसक !

इसी कसक के साथ गुप्त जी की भावुकता ने सादारण-संबंध स्थापित कर के उन्हें अपनी कविता के सूत्र में 'कठण कथाओं की मृदु कलियाँ' पिरो कर एक सुन्दर-सी गाला प्रस्तुत करने को प्रेरित किया । सिद्धार्थ अपनी पत्नी, अपना पुत्र, अपना धन-पैगमब सब पर छात मार कर घर से निकल पड़ा ।—

मैं त्रिविध-दुःख-विनिवृत्ति-हेतु
 योंछू अपना पुरुषार्थ-सेतु
 सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु
 तब है मेरा सिद्धार्थ नाम ।
 ओ क्षणभंगुर भव, राम राम ।

तात्पर्य यह कि चाहे सिद्धार्थ, चाहे यशोधरा, चाहे राहुल-
 सब का चरित्र कारुण्य के चित्र-पट पर अंकित किया गया है,
 और कारुण्य की ही सुलिका से; और गुप्तजी ने इस अंकन में
 जो सफलता प्राप्त की है उसका मुख्य कारण है उनकी भावुकता,
 उनकी तादात्म्यभावना, उनकी वह 'मैं-शैली' जिसके संबंध में
 एक आधुनिक छायावादी कवि ने यों लिखा है—

मैंने 'मैं-शैली' अपनाई
 देखा दुखी एक निज भाई
 दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
 झट उमड़ वेदना आई ।

'यशोधरा' के काव्यगत कारुण्य में हम कवि के हृदयगत
 कारुण्य की स्पष्ट प्रतिच्छाया पाते हैं ।

‘साकेत’ की आलोचना करते समय जो सब से पहली बात बतलाई जाती है, वह यह है कि काव्य जगत् की उपेक्षिता चर्मिला के प्रति इस काव्य में न्याय किया गया है। और बात भी ठीक है। चर्मिला-सौमित्रि के हास-परिहास से काव्य का सूत्र-पात होना भी इसी दिशा का द्योतक है। किन्तु यहाँ पर एक बात का ध्यान रहना चाहिये—राम और सीता के प्रति जो कवि का पक्षपात है, वह लक्ष्मण और चर्मिला के चरित्र के पूर्ण विकास में बाधक सिद्ध हुआ है। ‘साकेत’ के मुखपृष्ठ पर हम देखते हैं—

राम ! तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

किन्तु यदि चर्मिला की प्रधानता अंकित करनी थी तो उसी

केन्द्रीय भावना को मुखपृष्ठ पर गौरवित करना चाहिये था।
यदि 'यशोधरा' में—

अबला ! जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी—बाले पद्य
को प्रतीक माना गया है तो 'साकेत' में भी—

पुरदेवी सी यह कौन पड़ी
उर्मिला मूर्च्छिता मौन पड़ी
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई
यह कुसुमती जल भिन्न हुई !

सीता ने अपना भाग लिया
पर इसने वह भी त्याग दिया ।—

इसी तरह का कोई पद्य गौरवान्वित करना चाहिये था।

'गिरीश' ने 'साकेत' में राम और सीता की अत्यधिक प्रधानता की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

“कवि के प्राप्तुत प्रबंध में तो राम और सीता ने महाकाव्य के सत्य को भी अधिष्ठित कर लिया है और उनके गान को भी, बेचारी उर्मिला के हाथ में एक फूटी ढोल दे दी गई है, जिससे बेसुरी आवाज निकलती है।”^१ उर्मिला की ढोल फूटी है या सुरीली—इसकी विवेचना अपेक्ष्य नहीं है; किन्तु इसमें सन्देह

१ साकेत पृ० १४३ ।

२ गिरीशः शुभ्रजी की काव्यधारा पृ० २४७ ।

नहीं कि राम और सीता के चित्रण में गुप्त जी के भक्त ने गुप्तजी के कवि पर प्रचलता प्राप्त कर ली है।

अपने राम को मानवता के स्तर से ऊँचा उठा कर कवि ने अञ्जु रूप से रमिला के प्रति अन्याय किया है। रमिला मानवी है, उसके हास्य और रुदन, सुख और दुख के साथ हम ऐक्य अनुभव कर सकते हैं। किन्तु 'साकेत' के राम अति-मानव हैं। 'हरिऔध' और गुप्तजी में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम ने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण को मानवता की कोटि में रक्खा है, उन्हें अधिक से अधिक 'मृरल' की उपाधि दी है; वहीं द्वितीय ने अपनी परम्परागत अवतार-भावना को अक्षुण्ण रक्खा है। 'हरिऔध' के परिचरित्त मत के अनुसार 'अवतार' ईश्वर के मनुष्य तक उतरने की मध्यम कड़ी (middle link) नहीं है, बल्कि मनुष्य के ईश्वर तक पहुँचने की। अर्थात् मनुष्य होते हुए जो आदर्श चरित्र का चरम रूप दिखला सके, वही 'अवतार' है। वही ईश्वरत्व के पथ पर अग्रसर है"। * किन्तु गुप्तजी के राम वस्तुतः ईश्वर हैं और लीला के वद्देश्य से भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं—

हो गया निर्गुण स्गुण-साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।^१

* 'हरि औध' का 'प्रियप्रवास'—लेखक द्वारा । पृ० ७० ।

^१ साकेत पृ० १ ।

कवि ने अन्त्यत्र भी लिखा है—

कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं
हे स्वतंत्र मेरा भगवान् ।^१

किन्तु 'हरिऔध' ने ठीक इसी भावना और इन्हीं शब्दों का स्पष्ट प्रतिरोध किया है 'प्रियप्रवास' की भूमिका में ।

माना कि 'साकेत' के राम ने इस मर्यादालोक को पुण्यलोक बनाने की ठानी थी--

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इम भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।^२

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये भगवान् को अपने सातवें आसमान से उतरना अनिवार्य है ? क्या मानव-विभूतियाँ ऐसा करने में असमर्थ हैं ? माना कि राम संसार के उपकार के उद्देश्य से आए थे—

मैं आयों का आदर्श बनाने आया
जन-मंमुख धन को तुच्छ जनाने आया
मुख-शान्ति-हेतु मैं श्रान्ति मचाने आया
विद्वार्मी का विद्वाम बचाने आया ।

१ मंकार पृ० ५९ ।

२ साकेत पृ० २१८ ।

पुनश्च—

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या नर को ईश्वरता प्राप्त कराने के लिये किसी ईश्वर का अपना ईश्वरत्व त्याग कर अवतार लेना अनिवार्य है ? गुप्तजी का उत्तर है—‘हाँ’; ‘हरिऔध’ जी कहेंगे—‘नहीं’ । पाठक की भावना चाहे जो पसंद करे, किन्तु हमारा निजी विचार है कि हम एक अवतार लेकर आए हुए ईश्वर से अपना नाता छतना नहीं जोड़ सकते, जितना वससे, जो हम मानवों में ही जन्म लेकर, हमारी ही कोटि में रहकर, हमसे ऊँचा उठ कर एक सम्भाव्य आदर्श प्रस्तुत ~~कर~~ सके । ‘साकेत’ के राम भले ही हमारी धार्मिक भावना के म्यूजियम की संचनीय संपत्ति हों, किन्तु सम्भवतः वे हमारे दैनन्दिन जीवन के पथ पर मशाल नहीं जला सकते । जब लक्ष्मण ने अपने भाई से कहा था कि—

पर हम क्यों प्राकृत-पुरुष आपको मानें ?

निज पुरुषोत्तम की प्रकृति क्यों न पहचानें ?^१

तो यहाँ ‘पुरुषोत्तम’ का अर्थ ‘नररत्न’ या ‘महात्मा’ नहीं समझ लेना चाहिये । ‘पुरुषोत्तम’ से अभिप्राय है साक्षात् ईश्वर से—अथवा, अधिक से अधिक, ईश्वर के अवतार से । लक्ष्मण ही

१ साकेत पृ० ११७ ।

२ ” पृ० १२२ ।

के समान हम 'प्राकृत-पुरुष' इस ऊँचाई तक पहुँचने में सर्वशक्ति और सर्वथा असमर्थ ही रहेंगे।

फिर भी, और जिस रूप में भी, गुप्तजी ने राम को चित्रित किया हो, विचारणीय यह है कि उनके जीवन का कौन-सा रूप कवि की भावुकता का प्रेरक हुआ है—हर्षमय अथवा कारुण्य-कलित। इस प्रश्न का उत्तर इसी से जाना जा सकता है कि साकेत की कथायस्तु का आरंभ राम की जीवन-रेखा के उसी बिन्दु से होता है, जहाँ से उन्हें निर्वासन, जायापहरण और आयोधन के कष्टों को झेलते हुए चौदह वर्षों तक जंगलों और पहाड़ों की लाक छाननी पड़ती है; और अन्त उसी बिन्दु पर हो जाता है, जहाँ से सुख-समृद्धि और राजत्व का आरंभ होता है—भर्याल लंका से लौटने के साथ ही। इससे यही सिद्ध होता कि कवि की कल्पना को राम के जीवन का यही दुरतद् अंश प्रिय है। तृतीय सर्ग के आरंभ में ही हम यह देखते हैं कि दिनों की मनोकामना मिट्टी में मिल गई, राजा और प्रजा सबों की अभिलाषाओं पर पानी पड़ गया और—

जहाँ अभिषेक-अंगुद छा रहे थे
मयूरों-से समी मुद पा रहे थे
यहाँ परिणाम में पथर पड़े यों
सड़े ही रह गये सन थे सड़े ज्यों^१

यहाँ से लेकर काव्य के अन्त तक राम का जीवन एक तापस और योद्धा का जीवन है,—राजभवन से दूर ! घने जंगलों और भीषण रणभूमियों में ! किन्तु कवि को संसार के सामने यह आदर्श दिखाना है कि इन परिस्थितियों में भी पुरुषोत्तम रामचंद्र ने कितनी धीरता और मनस्विता से काम लिया । गुप्तजी कारुणिक परिस्थितियों को लाकर अपने नायक और नायिका को चनका शिकार बनने नहीं देते । उनके पात्र उन परिस्थितियों पर विजयी होते हैं और हमारे इस जीवन के लिये संदेश दे जाते हैं ।

एदाहरणतः जब राज्याभिषेकोन्मुख राम को वनवास की आशा मिलती है तो उनके चेहरे पर तनिक भी शिकन नहीं आती । आत्मग्लानि की आग में जलते हुए पित्र से वे कहते हैं—

अरे, यह बात है, तो खेद क्या है ?

भरत में और मुझ में भेद क्या है ?

करें वे प्रिय यहाँ निज-कर्म पालन

करूंगा मैं विपिन में धर्म पालन ।

इसी तरह दूसरे प्रसंग में अपनी माता और पत्नी को स्वयं अपने वनवास की सूचना देते हैं और इन शब्दों में—

माँ, मैं आज कृतार्थ हुआ

स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ ।

पावन-कारक जीवन का
मुझको वाम मिल्य वन का ।
जाता हूँ मैं अभी वहाँ
राज्य करेंगे भरत यहाँ ।

‘सीता-माता’ की भी जीवन-यात्रा का वही अंश ‘साकेत’ में
चित्रित है, जिस पर हम केवल आँसू बहा सकें। चतुर्थ सर्ग के
आरंभ में कवि ने हमें सीता से बनकी उस दशा में साक्षात्कार
कराया है, जब वे हर्ष से फूली नहीं समाती, आनंदातिरेक से
पागल-सी हो गई हैं, भावी राज्याभिषेक के संभार-संघय में
व्याकुल हैं—

‘माँ, क्या लाऊँ ?’ कह-कह फर
पूछ रही थी रह-रह कर
सास चाहती थी जन जो,
देनी थी उनको सब सो ।
कभी आरती, धूप कभी
सजनी थी सामान सभी ।
x x x x x x x x x
दोनों शोभित थी ऐसी—
मेना और उमा जैसी ।

मानों वह मूर्ख न था
वहाँ दुःख का मोक्ष न था^१ ।

किन्तु क्षण भर में ही आनंद की सुनहली किरणों को विपाद के काले दानवी बादलों ने आच्छन्न कर लिया । कुछ क्षण के लिये उन्हें इस विकट सत्य पर विश्वास नहीं हुआ; पर जब राम ने म्वयं सारी परिस्थिति समझा दी, तब अचानक उनका संसार बदल गया । आनंद का समाँ कष्टनाशनक परिस्थिति में परिणत हो गया । परन्तु जिस प्रकार निर्वासन-निर्देश सुनकर राम ने धीरता से काम लिया था, उसी प्रकार सीता ने भी इस अवसर पर हृदय में विकृति नहीं आने दी । क्षण भर में ही उन्होंने भविष्य की सारी रूप-रेखा अपने मानस-पटल पर अंकित कर ली । दुःख-सुख में अपने पति की पार्श्ववर्तिनी बनी रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया और मन में सोचा—

स्वर्ग बनेगा अब वन में !
धर्मचारिणी हूँगी मैं
वन-विहारिणी हूँगी मैं^२ ।

हुआ भी ऐसा ही । कवि ने राम-शुद्धमण-सीता के सम्मिलित वन-जीवन को बड़ा ही मनोरम चित्रित किया है । देवर-भामी का आमोद-परिमोदमय सम्बन्ध मानों वनवास-रूपी मरुभूमि में

^१ सत्येन पृ० ४७ ।

^२ ,, पृ० ८८ ।

‘ओएसिस’ (Oasis) का काम देता है। गंगा पार करते समय का दृश्य देखें—

बोले तब प्रभु, परम पुण्य पथ के पथी—
 “निज कुल की ही कीर्ति प्रिये, भागीरथी।^१
 “तुम्हा पार कर रहे आज जिसको अहो।”
 सीता ने हँस कहा —“क्यों न देवर, कहो !”
 “है अनुगामी—मात्र देवि, यह दास तो !”
 गुरु बोले—“परिहास बना बनवास तो।”^२

गंगा पार कर के यह निर्वासित-त्रयी तीर्थराज प्रयाग की ओर आगे बढ़ी। मार्ग में ग्राम-बधूटियों जुड़ आई और सीता से प्रेम पूर्वक मिठी। उन्हें रत्न-सुलभ जिहासा हुई कि युधकों के साथ सीता का क्या संबंध है। उन्होंने पूछा—

“शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं ?”

सीता ने उत्तर दिया—

“गौरे देवर, श्याम उन्हा के ज्येष्ठ हैं।”^३

इतना कह कर वे कुछ ‘तरल हँसी हँस रह गईं’। ❀

१ साक्षेत्त पृ० १२८, १२९।

२ „ पृ० १३१।

* हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि इसी परिस्थिति को तुलसी ने शिव मूर्ती, कलात्मकता और मनोवैज्ञानिकता के साथ चित्रित किया है उसके

इसी प्रकार पद-पद पर देवर और मामी-ये दोनों 'कलाकार' अपनी 'गीत-काव्य-चित्रावली' का सृजन करते रहे अथवा दाम-परिहास की रंसीली पिचकारियाँ छोड़ते रहे । नन्दाहरणतः—

"दल में अग्रज अनुज, अनुज है अग्रणी ।"

मीना ने हँस कर कहा—"न हो कोई शर्मा ।"

"मामी, फिर भी गई न आई तुम कहीं ,

मन्य माग की मन्य माग में ही रही ।"

सामने गुलामी की ये पंक्तियाँ निम्नल सालूस पवनी हैं । नुनता कीमिये—
अयोध्याकांडः—

सीय समीप प्राप्त त्रिषु जाहीं ।

पूठत अति सनेह सकुषाहीं ॥

सकुषि मग्रेम बाल मृग-मैत्री ।

बोली मजुर वचन रिदन्वैनी ॥

सहज सुमार सुमग तनु गोरे ।

नाम छयन लघु देवर मोरे ॥

बहुनि बदन त्रिषु अंचल रोंकी ।

लिय तन चिन्तै भौंह करि रोंकी ॥

सोवत मंतु तिसीछे नैननि ।

निजपति कहेट निनदिंसिप सैरनि ॥

गुलामी की ये पंक्तियाँ उस समय की सामूहिक परिस्थिति का प्रतिमूर्त-
रूप मात्र बतल देती हैं ।

मुसकाये प्रभु, मधुर मोद-धारा वहीं^१ ।

अष्टम सर्ग में कवि ने हमें चित्रकूट की सैर कराई है। वहाँ भी हम इस तापस-त्रिवय को जंगल में मंगल करते देखते हैं। प्रकृति की अनंत निधियों के बीच वेसुघ-सी सीता प्रत्येक समीर-छहरी के साथ अपनी गुनगुन स्वर-छहरी मिलाकर गाती हैं—

मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।

उनके प्राणेश इस साम्राज्य के सम्राट् हैं, देवर सखि हैं और वे हैं रानी । चित्रकूट पर्यंत उनका गढ़ है । तितलियाँ भट खेडियाँ करती हैं, पिक और मयूर गाते हैं, फणोत नृत्य करते हैं । कलियाँ लिङ्गने लगीं, फूल फूलने लगे, राग-मृग भी चरना भूल गए और—

सन्नाटे में था एक यही रव छाया—

‘मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया’ ।^२

वनगमन के पहले ही जब राम ने सीता के सामने जंगल का भीषण दृश्य प्रस्तुत किया था, कि जिसमें वे अपने निश्चय से डिग जायें, उसी समय उन्होंने कहा था कि—

मेरी यही महा मति है—

पति ही पत्नी की गति है^३ ।

१ साकेत पृ० १३४ ।

२ „ पृ० २११ ।

३ „ पृ० १०३ ।

चन्दे यह विश्राम था कि—

यदि अपना आत्मिक बन्ध है
जंगल में भी मंगल है^१ ।

राम-लक्ष्मण-भोता को विषम और मकरुण परिस्थितियों में भी जब हम मोह मनाते देरतते हैं तो हमें विश्वास होने लगता है कि मानव अपनी परिस्थितियों का प्रभु है अथवा हो सकता है। यह प्रत्येक दशा में अपना एक अनूठा संसार सृजन कर सकता है, जिसमें करुणा के मकरन्द-विन्दु बरसते हैं, जिसमें सुकृतागन ही वसका भवन है, और जहाँ—

सग्ल पृष्ठ गगिताँ है
कृष्ण भाव-गगिताँ है^२ ।

‘साकेत’ के कारण्य-कठिन पात्रों में कैकयी का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कैकयी के चरित्र का अभिनय सृजन-मात्र इस काव्य को धमर बनाने का पर्याप्त है। ‘साकेत’ की कैकयी गुप्तजी की व्यक्तिगत भावना-संसार की विविध विभूति है। कवि ने मानों उसे पुनर्जन्म दिया है, और रूपान्तरित करके। राजकुल-प्रभूता, पतिवरायणा राज्ञी कैकयी निमग्नतः दुष्ट हो—यह कल्पना

सम्भवतः किसी को प्रिय न होगी और न सहजतया ऐसी आशा की जा सकती है। यदि ऐसी ही बात होती तो राजा दशरथ के भक्तन्य प्रेम की भागिनी वह क्यों होती ? 'रामचरितमानस' में भी तुलसी ने कैकयी की मनोवृत्ति की विकृति का कारण ठहराया है देवताओं के पह्यंत्र को। देवता सरस्वती के यहाँ जाते हैं और कहते हैं कि ऐसा उपाय किया जाय जिससे रामचन्द्र का वनवास हो, नहीं तो दानवों का विनाश कौन करेगा। सरस्वती इस विचित्र अभ्यर्थना को सुन कर पश्चात्ताप करने लगती हैं और उन 'ऊँच निवास नीच करतूती'वाले देवताओं के मनो-नुवर्तन के उद्देश्य से अयोध्या आती हैं तथा—

नाम मंथरा मंदमनि, चेरि कैकयी केरि ।

अजम पिठारी ताहि करि, गई गिरा मनि फेरि ॥

इस बुद्धि-विपर्यय के प्रभाव में आकर मंथरा हर्षोन्मत्त कैकयी के पास जाती है और ईर्ष्या का भाव सागरित करना चाहती है। किन्तु रानी उसे फटकार कहती हैं—

पुनि अम कबहुँ कहाँम घर-फोरी ।

तौ घरि जीम फटावाँ तोरी ॥

क्योंकि—

प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे ।

गुनजी ने भी कैकयी का पूर्वरूप वैसा ही उदात्त चित्रित

किया है। मंथरा की दुर्मन्त्रणा पर वे नागिन-सी पुताकार
बैठती हैं—

दूर हो, दूर अभी निर्वोध !
सामने से हट, अधिक न बोल ,
द्विजिह्वे, रस में विष मत घोले ।-

कमला, मंथरा के अत्यन्त अविक दसपथ, सफाई और कदने
सुनने का प्रभाव वनपर पड़ ही जाता है। परिस्थिति भी सहारा
देती है; उन्हें आशंका होती है कि उनके निश्छल पुत्र के विद्वत्
कोई पद्व्यन्त्र रचा गया है, नहीं तो राज्याभिषेक के अवसर पर
उनकी अनुपस्थिति क्यों !

भक्त-से सुत पर भी सन्देह
बुलया तक न उन्हें जो गेह ।

.....

गँजते थे रानी के कान
तीर-सी लगती थी वह तान—
भक्त-से सुत पर भी सन्देह
बुलया तक न उन्हें जो गेह ।

फलतः वे कोप-भवन में जाती हैं, राम-वनवास-रूपी वरदान

माँगती हैं और राजपरिवार और प्रजा के अभिशाप की पात्री होती हैं—

एहि विधि बिलपहिं पुर नर गारी ।

देहिं कुचालिहिं कोटिक गारी ॥ *

(रामायण)

इस प्रसंग के चन्द्रण से स्पष्टतः विदित हो जाता है कि कैकयी स्वभावतः सरल और राम-वत्सल थीं और उनकी मति फिरने का कारण तात्कालिक अदृष्ट देव-पट्टयन्त्र था । हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि देवताओं का प्रभाव कैकयी पर भी पड़ा था, क्योंकि यदि मंथरा प्रभावित हो ही जाती, और कैकयी न होती, तो उन लोगों का सारा ऋयोजन विफल जाता । ऐसी दशा में कैकयी की अल्पकालीन मानसिक विकृति के लिये उन्हें अनंत भविष्य के लिये बलंक के कठोर कारागार में विक्षिप्त कर देना कहाँ तक उचित था—यह विचारणीय है । क्या कैकयी की जन्म-सिद्ध सद्भावनाएँ मंथरा-मन्त्रणा के एक ही झोंके में सर्वदा के लिये अस्त-व्यस्त हो गईं ? क्या राम के वन चले जाने पर, देवताओं के मनोरथ पूर्ण हो जाने पर, और पति के अस्त होजाने पर भी उनकी मनोवृत्ति ज्यों की त्यों बनी रही ? और सबसे बड़ फर तो यह, कि क्या जिसके लिये सोने का संसार सजाया गया, वही पुत्र भरत ने जब उसे पैरों से ठुकरा दिया और उनकी पटुतम भर्त्सनाएँ कीं, तब भी उन्हें अपने किये पर अनुत्ताप न हुआ और सद्वासनाएँ न छागीं ? मनोविज्ञान

के चिन्तार्थों के नाते हमें यह समीक्ष करनी चाहिये थी कि माता कैकयी के जीवन में इन आशाहीन दुर्घटनाओं का प्रतिकारी प्रभाव अवश्य हुआ होता !

महर्षि मैथिलीशरण गुप्त की अनायास भावुकता और प्रकृति पर्यवेक्षण ने उन्हें इस मनोवैज्ञानिक असंगति का परिशोधन करने को बाध्य किया । उन्होंने ने सोचा—कैकयी क्या उर्मिळा से कम काव्य-जगत की उपेक्षिता रही है ?—यह तो उपेक्षिता ही नहीं, धरन् अधिक्षिता भी रही है । अब उन्होंने निश्चय किया कि 'साकेत' में कैकयी के काव्य-शरीर के इस पंक का प्रक्षालन करना ही है ।

फलतः विप्रवृत्त में हम कैकयी को जिस रूप में पाते हैं वैसे हृदयंगम कर के हम प्रवित हो बैठते हैं । अनुताप और आत्म-भरसना की प्रतिमूर्ति कैकयी ! बाप परिशोध को छाछावित कैकयी ! अतन्य-वत्सलता का आदर्श कैकयी !

सभा बेठी है । भगवान् रामचन्द्र भरत के आगमन का कारण पूछते हैं—

हे भरत भद्र ! अब कदो अभीप्सित अपग्न ।

भरत ने ओ उत्तर दिया है वह व्याकुल अन्तःकरण के विकल द्वार का नमूना है ।—

हे आर्य ! रहा क्या भरत-अभीप्सित थव भी !

मिल गया अष्टक राज्य उसे जब, तब भी !

तन तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?

.....

मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा^१
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ।

इन हृदय के मसोस-भरे कटु-मृदु चट्टारों में अभीप्सित
पद की धार धार बलात्मक आशुति भरत की करुणाद्र भावना
को मार्गों पाटक के हृदय में कीलित-सी कर देवी हैं ।

फेकधी से भी रहा न गया । वे अपने को सँभाल न सकीं ।
मनस्ताप की धारा धाडाय हो कर फूट चली—

हाँ, जनकर भी मैंने न भरत को जाना
सब सुनलें, तुमने स्वयं अभी यह माना ।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी भैया ।

.....

धूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही धूके
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
छीने न मातृ-पद किन्तु भरत का मुझसे
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?

आत्मज्ञान के आवेश में वे क्या क्या न कह देती हैं—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—

‘रघुकुल में थी एक अभागिन रानी।’^१

यह ठीक है कि अपनी अनन्त अनुनय-विनय पर भी वे रामचन्द्र को अयोध्या नहीं छोड़ा सकी, क्योंकि—

पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है

लीज कर वह कब कहाँ लिया जाता है ?^२

किन्तु संसार को संदेह नहीं रहा कि माता कैकयी का हृदय महान्त है—शुभ्र चन्द्र को सनभर के लिये राहु ने प्रसन्न लिया था। प्रहल कटा और फिर वही ज्योत्स्ना, वही नैसर्गिक सुपमा, सचमुच जिस कलंक की कालिमा को वाल्मीकि नहीं धो सके, कालिदास नहीं मिटा सके, तुलसीदास नहीं दूर कर सके, वैसे गुप्तजी ने सदा के लिये परिमार्जित कर के हिन्दी साहित्य को ‘साफ़े’ के रूप में एक अमूल्य निधि भेंट दी है और कैकयी के चरित्र के कारण को एक नई गति-विधि (orientation) दी है।

पाठक अब फाल्गु की मुख्य पात्री उर्मिला की ओर ध्यान दें। प्रथम सर्ग में, और सर्वतः प्रथम, हमारा परिचय इसी पत्नीय

१ साधेत पृ० २३२।

२ „ पृ० २३९।

सुवर्ण की प्रतिमा' से होता है। प्रासाद में खड़ी इस सुन्दरी की रूप-राशि का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिन्न
नाम है दम्भ उचिन ही 'उर्मिला' । •

उर्मिला के 'प्रणय-सेवा' लक्ष्मण और लक्ष्मण की 'हृदय-देवी' उर्मिला—दोनों हास-परिहास, आमोद-प्रमोद, व्यङ्ग्य-मंगि में लहीन हैं। जीवन-सुख का अस्वास्थ्य की तरंगों ने, प्रणय के आदान-प्रदान की मृदुल उर्मियों ने उर्मिला को यथार्थतः उर्मिला बना दिया है। इस नवोद दम्पती के आनन्द का इन्द्र-धनुष राम के राग्याभिप्रेत की अरुण किरणों के सहारे खिखि की अनन्तता को भी नाश गया है। परिष्कृत के प्रतिक्रिया-स्वरूप अनन्ततायमान आनन्द की लहरियों से उद्वेलित दो हृदय दिन निकलते एक दूसरे से बिदा लेते हैं।

हर्ष और आनन्द की इस प्रसन्नभूमि पर जब हम लक्ष्मण और उर्मिला के पश्चात्कर्तव्य वियोग का चित्र अंकित पाते हैं तो उनकी बेदना के प्रति हमारी सम बेदना समझ-सी आती है। कहाँ ये सुख के सपने ! और कहाँ वे विरह की भीषण रातें ! यह सुर्ग में कवि हमें विरह-विह्वला उर्मिला को एक झाँकी देता है। उसे रोद यह है कि वह भी अपने नाय का साथ क्यों न दे सकी !—किन्तु फिर भी वह यह नहीं चाहती कि उसकी चिंता उसके पति के कर्त्तव्यमार्ग में कंटक बन जाय। वह गून की घूँट आप पीलेगी।

कितनी उदारता ! आज तक सदियों से हमने सीता की ही याद करके रोना सीखा था । किन्तु गुनजी ने हमें चर्मिला के लिये रोना सिखाया है । सीता और चर्मिला के कारण की मुलना की दृष्टि से कवि की ये दो ही मार्मिक पंक्तियाँ पर्याप्त हैं—

सीता ने अपना भ्रम लियु
पर इसने कह भी त्याग दिया^१ ।

सीता को तो अपने पति के साथ रहने का अवसर मिला—
मिला दुःख-सुख में संगिनी बनने का मौका; किन्तु चर्मिला को अपने पति के साथ कदम में कदम मिला कर खंगल की खाक छानने का भी सुयोग नहीं मिला ।—

मरण जीवन की यह^२ संगिनी
बन सको बन की न विहंगिनी ।

कितना महान अन्तर है दोनों की दशाओं में ! यदि चर्मिला—
‘ति-श्रेष्ठ-यात्री चर्मिला—जी भर कर रोवे तो इसमें क्या आश्चर्य !
महात्मा-गांधी को भले ही चर्मिला की अतिविकलता अवश्य हो,
किन्तु गुनजी को तो इसी का गर्व है—

कल्प, क्यों रोती है ? ‘उत्तर’ में और अधिक तू रोई—^३
‘मेरी विभूति है जो, उससे ‘भय-भूति’ क्यों कहे कोई’^४

१ गणेश पृ० १४३ ।

२ “ पृ० २५० ।

६

गुप्तजी को भवभूति से होड़ ढगी है, अन्तर इतना ही है कि 'उत्तररामचरित' में सीता रोती है और 'साधेत' में चर्मिला। नवम सर्ग के आरंभ में कवि घतलाता है कि—

मानस-मंदिर में सर्ग, पति की प्रतिमा थाप
जलनी-सो उस विरह में, यनी आरती आप।

प्रेमोपासिका चर्मिला अपने मन-मन्दिर में अपने आराध्य देव पति को प्रतिष्ठापित कर के आप ही आरती की ज्वाला घन कर जल रही है। त्याग और विरह की पराकाष्ठा है यह ! जायसी का निम्नलिखित पद्य विरहोत्कण्ठा के उत्कर्ष के लिये प्रसिद्ध है—

यह तन जारों छारि कै, कहौं कि परन उदाव ।

मरु नहि मारम उटि परै, कंत धरै जहँ पाँव ॥

किन्तु गुप्तजी की उपर्युक्त दो पंक्तियाँ भायना के उत्कर्ष की दृष्टि से कहीं अधिक तीव्र हैं। महादेवी चर्मा भी 'नीरभरी दुरा की बढ़ली' हो सकती है। किन्तु अपने आराध्यदेव के आराधन में आप ही आरती घन कर भस्म हो जाना आत्म-त्याग की चरम सीमा समझी जायगी। स्वामि-भक्त-योगिनी विषम-विद्योगिनी चर्मिला क्रमशः आत्म-ज्ञान रो बैठती है और चेमुषी की दशा में यह जो उद्भ्रान्त प्रलाप करती है, उसी का संग्रह है नवम सर्ग; चरित्र

दशम सर्ग थी। अतीव स्मृतियों की कसक, लुटा हुआ प्यार-का-संसार और उसकी वह दयनीय दशा जिसमें उसे न 'वन' ही मिला न 'भवन' ही मिला—सभी उसकी उन्मत्तता के लिये ईश्वर धन जाते हैं। प्रेम का पुष्प कुञ्चलित भी न हो पाया था कि बिखर गया। वह यह सोच कर सहम जाती है कि—

वह निषाद ! वह हर्ष कहीं अब देना था जो फेंरी
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी ॥

.....

पत्र-पुष्प सब बिखर रहे हैं, कुञ्जल न मेरी तेरी
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी ॥

काव्यनिक सखी से, सुरभि से, गूंगी निद्रिया से, सारिका से; चकोरी से, कोक्री से, पावकी से—न जाने किस किससे वह अपनी कारुण्य-कथा कहती है। इसका विरह और उसकी वेदना सारे विश्व में व्याप जाते हैं। इसीलिये तो जिस प्रकार यशो-धरा कहती है कि—

मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी वधा — व्यथा सही १।—

१ सारंगत पृ० २६०।

२ यशोधरा पृ० १५०।

वसी प्रकार चर्मिला भी बोल उठती है—

मेरी ही पृथिवी का पानी

ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी !

मेरी ही धरती का धूम

बना आज आली, घन धूम

गरज रहा गज—सा शुक शम

बल रहा मद मानी

मेरी ही पृथिवी का पानी ।

चंद्रमा भी अमृत किरणों से चर्मिला के कर्णाक्षर को सींच-
सींच कर पनपाता है । शिशिर ने अपने पतझड़ और अपने कंपन
की वसी से भीख ली है । उसके हृदय की हूक ही कोयल की
बूक बनी है । मलयानिल को यह आशंका है कि कहीं वह उसके
विरह-दग्ध शरीर से लग कर लू न घन आय और अपने आप
को ही जला न डाले । जब चर्मिला यह सोचती है कि उसके दुर्गों
का अन्त तब तक न होगा जब तक यह भूमि 'चौदह बकर' नहीं
लगा लेगी, तो वह सहम जाती है । व्याकुलता की दशा में वह
माता सरयू के पास जाती है—उससे न जाने कितनी अतंत
स्मृतियाँ वह सुनाती है; उसके साथ हँसती है, रोती है, सम-
वेदना प्रकट करती है और कभी अपनी और उसकी दशा में
तुलना कर मसोस जाती है—

गति जेतन नै मिली जुड़े
 तारिते बंधन की ब्यथा दुते^१ ।

सरपू भी तो जब पितृगृह से चलने लगो थी तो घसकी
 वियोगवेदना अनंत धाराओं में फूट पड़ी थी, उसका हृदयद्रवित
 हो रहा था! किन्तु अब निष्ठन की अनन्त आशाएँ बहरे बनकर
 उसके वक्षस्थल पर थिरक रही हैं! पर र्निष्ठा की आशाओं की
 पन्ध्रधिरणों को चिरविपोग के राहु ने दस रक्खा है। यशोधरा
 के समान र्निष्ठा भी पोछे षष्ठ कर रदन और गान की सीमा-
 न्तरेखा पर अभिहित होती है।—

मेरा रोदन नम्र रह है, कहल है, कुछ गारं
 उफ गान कहल है, रोना जरै तो नै थारै^२ ! ;

अथवा—

यही रुदन है मेरा गान
 है मेरे श्रेष्ठ भजन^३ !

किन्तु यशोधरा की रदन-शानावस्था का जो मनोवैशा-
 निक साधार है—राहुक रूपी यात्री—उसका 'सायेव' में अभाव
 है। 'सायेव' के अपने निजी गुण हैं—काम्य-कला में, पद-

१ छन्दः पू० ३६७।

२ „ पू० ३०९।

३ „ पू० ३२२।

लाटिल्य में, छन्दों के विविध विधान में और कल्पना की उद्वान में यह 'यशोधरा' से कहीं उत्कृष्ट है, किन्तु मुख्य पात्री के चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता में 'यशोधरा' का पल्ला भारी रहेगा ।

दूसरी बात यह कि हमें महात्मा गांधी के सार्थ सामूहिक दृष्टि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि "इस युग की पुस्तक में ऐसा रुदन नहीं आता ।" रघुपुल-तिलक महाराज दशरथ का भी स्त्रैण-वैलम्ब्य संभवतः हमारी भावना के अनुकूल नहीं है । यह तो ठीक है कि उनके सामने कैकयी ने एक अत्यन्त विषम समस्या रखी कर दी थी ।—

वचन पलटें कि भैंजें राम को वन में
उभयविध भृत्यु निश्चित जानकर मन में
हुए जीवन-मरण के मध्य धृत-से वे
रहे यस अर्ध-जीवित, अर्ध-मृत-से वे^१ ।

किन्तु विचारना यह है कि क्या इतनी विकलता क्षत्रिय-वीर नृपराज को शोभा देती है ? वे अत्यन्त ही दीन, फातर भाव से लक्ष्मण को आमन्त्रित करते हैं कि वह उन्हें बन्दी बना ले और राज्याभिषेक सम्पन्न होने दे; उसी प्रकार रामचन्द्र से भी कहते हैं कि यदि वे पिता की प्राण-रक्षा चाहते हों तो—

न मानो आज तुम आदेश मेरा ।

अन्त में आत्मभर्त्सना से घोरित और कष्ट प्रन्दन से पंकित राजा दशरथ के प्राण उनके शरीर से बिदा लेते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या केवल जुदाये की ओट में हम राजा की अतिशय कायरता को छिपा सकते हैं और उनसे असंगत और अनर्गल बातें बुलवा सकते हैं ? हमारा नवयुग राजा दशरथ के परम्परागत चरित्र में परिष्कार चाहता है और गुप्तजी ने भी इसे अंततः स्वीकार किया है ; महात्मा जी के पत्र में दशरथ का मौखिक साक्षात्कार पोंछने की प्रवृत्ति भी की है।

वर्मिला का अतिरुदन तो सर्वप्रत्यक्ष है। नवम और दशम सर्गों के कुछ के कुछ लगभग स्या ही पृष्ठ वर्मिला के ही मौखिकों से गीले हैं। हमारा अनुमान है कि कारण का अतिशय भी काव्योत्पादन का साधक होता है। उचित आधार में करणाजनक हृदय का वर्णन हमारी हृत्तन्त्री को हाँकल-प्रतिश्रुत कर के हमें उसकी अनुभूति के लिये जागरूक बनाए रखता है। किन्तु यही वर्णन यदि अतिविस्तृत हो जाय तो हमारी भावुकता पर पहले तो ठेस लगेगी, किन्तु पीछे उसकी चेतना मंद पड़ जायेगी। 'साकेत' के नवम सर्ग में भी हमारी भावुकता इसी प्रकार कमजोर सिद्धिल होती जाती है और मेला मान होने लगता है मानों रंग-विरंगे छंदों की प्रदर्शनी का साधन बनाया गया हो वर्मिला-विलास। नवम के बाद जब दशम में भी हम मौखिकों के ही प्रवाह देखते हैं, तो यह निश्चय-सा हो जाता है कि कवि को इतने रत्न से भी सन्तोष नहीं हुआ।

जैसे तो यह गर्व है कि चर्मिला के विरहानल में तन होकर उसका काव्य-कंचन चमक उठा है—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप में
और झकड़ ताप उनके प्रिय-विरह-विशेष में
दर्श-दर्श सदैव जिनके हों विमर्ग कर्म के
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुदर्श के^१ ।

चर्मिला के कारण से गुन जी को मोह है । उन्होंने ने महात्मा जी को लिखा—“यह (चर्मिला) तो आप के लिये बकरी का दूध भी खाना चाहती है । परन्तु डरती है कि उसमें कमी पानी मिला देकर कर आप यह न कह दें कि—छोड़ा मैंने बकरी का दूध भी । पानी, हॉ, आंखों का पानी । बहुत रोकने पर भी एक आध बार यह टपक पड़ा तो थापू दूध से भी गए ” । सारांश यह कि चर्मिला-रदन को कवि ने जान बूझ कर अतिरंजित किया है ।

एकादश सर्ग में हम लटा और प्रत्यंघा के अपूर्व समन्वय से विशिष्ट भारत को और चर पीतावरमारिणी वपस्विनी मांडवी को देखते हैं । दोनों राज-मवन और राजसत्ता के अधिकारी होते हुए भी पुण्ड्रपञ्चाशवन् निर्भिन्न हैं । फिर भी आत्मजांछन की टीस रह-रह कर उन दोनों को ज्वलित कर जाती है । भरत ने कहा—

हाय ! एक मेरे पीठे ही हुआ क्यों इतना उत्पान !

मांडवी सुरमें सुर मिलाकर बोल पड़ी—

हाय ! नाथ, भरती पट जानो, हम तुम कहीं ममा जाते
तो हम दोनों किनी मूढ में रह कर कितना रस पते^१ ।

हमारा^१ निजी विचार है कि चौदह वर्षों तक साव रह कर भी
भारत और मांडवी ने जिस असिधार-ग्रस्त की कठिन समस्या तीर्ण
की, वह हमारी सभ्यता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने
लायक है। आशा है कि जिस प्रकार गुप्तजी ने उर्मिला को
विरासति के गहरे गर्त से निकाल कर उसके कारुण्य को उचित
प्रधानता दी है, उसी प्रकार कोई कवि मांडवी की इस कम नपरवा
और कारुणिक परिस्थिति को अपने काव्य का प्रतिपाद्य विषय,
मान कर एक और उपेक्षित का उद्धार करेगा ।

गुप्तजी के पञ्चाद्वित प्रबन्धकाव्यों में 'सिद्धराज' एक ऐसा है जिसका हिन्दी संसार ने संभवतः सर्व स्वागत किया है। अतः उसकी आलोचना करने के पहले संक्षेप में उसकी कथावस्तु व प्रस्तुत अनुचित न होगा।

१

विक्रम की द्वादश शताब्दी ! पाटन के शासक सोलंकी सिद्धराज जयसिंह की जननी मीनछदे सोमनाथ दर्शन को जाती । मार्ग में ठहरी थी कि उसके सैन्यदल ने एक बंदी बालक के साथ उसकी माता को प्रस्तुत किया। अपराध यह था कि उसने तीर्थ यात्रियों पर लगाए हुए राजकर का विरोध किया था। राजमातृ ने निर्दोष पाकर उन्हें रिहाई दी किन्तु यह जान कर कि उसके शासक पुत्र ने देव-मंदिरों पर भी कर लगाए थे स्वयं तीर्थ स्थाप में निमग्न हो गई और अन्त में इस निर्णय पर पहुँची कि—

मन्दिर का द्वार जो खुलेगा स्वयं के लिए
होगी तभी मेरी कहीं दिव्यभर-भावना ।

फलतः वहीं से पीछे लौटी जा रही थी कि जयसिंह से
मार्ग में भेंट हो गई । उसने माता की इच्छा की अनुवर्तिता में
'कर का निदेश-पत्र' फाड़ डाला । सोमनाथ-मन्दिर के अभ्यन्तर
से हर्षोन्मत्त यात्रियों के कंठ बोल उठे—

हर हर महादेव ! जै जै राजमाता की !

२

सिद्धराज की अनुपस्थिति में हृष्टुर मालव-नरेश नरवर्मा
पाटन पर चढ़ आया । मंत्री के यह कहने पर कि 'राजा
की अनुपस्थिति में लड़ोगे किसे ?' उसने उत्तर दिया कि वह
तो केवल प्रतियातना के रूप में, जयसिंह का सोमनाथ-यात्रा-
फल चाहता है । मंत्री ने कहा—'तथास्तु' । किन्तु जयसिंह को
लौटने पर यह बात अच्छी न लगी और मालव पर आक्रमण कर
दिया और नरवर्मा के रक्त से ही अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति
की । नरवर्मा का उत्तराधिकारी यशोवर्मा हुआ और उसने भी
बुद्ध द्वारा अपमान का प्रतिशोध करना निश्चित किया । लड़ाई

१ सिद्धराज पृ० १० ।

२ „ पृ० १३ ।

छिड़ी-वयों और घनघोर ! यहाँ तक कि जयसिंह को पराजय की आशंका होने लगी । किन्तु—

हार होते-होते अकस्मान् जीत हो गई ।

इस विजय से राजा जयसिंह 'अवन्तीनाथ' पदवी से सुशोभित हुआ ।

३

इस युद्ध में मालव के सेनापति जगद्देव ने ऐसी वीरता प्रदर्शित की थी कि यह जयसिंह का प्रेम-पात्र हो गया और रण में तथा सदन में सदा पार्श्ववर्त्ती रहने लगा ।

छोठ का राजा नवपन भी जयसिंह के आतंक से डब घटा था । किन्तु अपने जीवन-काल में वह बड़का नहीं डे सका अतः अपने पौत्र रंगार पर यह भार पैत्रिक संपत्ति रूप में दिया ।

इधर ऐसी घटना घटी थी कि सिन्धुराज के स्वर्ण प्रतिमा-सी पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम था रानकदे । यह ग्रहदोष से छोठ के ही एक कुम्भकार-परिचार में पाली गई । इस रूपसी पर जयसिंह की भी आँखें लगी थी किन्तु रंगार ही उसके हृदय का अधिकारी हुआ । अब क्या था ?

ग्योल उठा रक्त शक्तिशाली जयसिंह का ।

युद्ध हुए—पन्द्रह बरसों तक ! अन्त में जयसिंह ही विजयी हुआ ।

और, साथ ले गया विशाल स्तिर रत्ना का
कोट के कंगूरे पर टाँगने को उसको^१।

रानक के सतीत्व पर भी जयसिंह ने आघात करना चाहा
किन्तु जगद्गुरु की मन्त्रशक्तता ने उसे इस अनर्थ से बचा लिया।

४

इतनी विजयमालाओं से विभूषित होने पर भी जयसिंह
माता की आँखों में खटकता ही था। प्रथम तो कारण यह था
कि वह अभी तक अपुत्र था, और द्वितीय यह कि उसके पिता का
जो परामर्श 'सपादलक्ष्म-वालों' ने किया था उसका निर्यातन
अभी तक न हो पाया था। उस समय 'आनासगर' की प्रसिद्धि-
वाले भर्णोरान ही सपादलक्ष्मीय थे और फुल्लवः जयसिंह ने आक्र-
मण कर के भर्णोरान को बन्दी कर लिया। वह गढ़ में कैद कर
लिया गया। वहीं पर जयसिंह की पुत्री काँचनदे से उसको
चार आँसुं हुई और अन्त में दोनों प्रेमसूत्र में प्रथित हुए।

५

एक पुत्र छोड़ सब पाया सिद्धराज ने।

सिद्धराज की युद्धाभिलाषा भी कालक्रम से शान्ति-पिपासा
में परिणत हो-रही थी। सन्धि का अवसर भी आ ही गया।
महोदये के मदनवर्मा ने जब सगता की सतहपर सन्धि का प्रस्ताव
मेजा तो सिद्धराज ने उसका अंगीकार किया और स्वयं महोदये में

जा मिला । मदनवर्मा ने अभिनन्दन करते हुए कहा कि वीरों का स्वागत शत्रु से ही होता है ।

यों कह उठाने पिचकारी एक सोने की
 केसर में रंगमरी, देके जयसिंह को
 दूसरी ले आप अविलम्ब घनी-धोरी ने
 सरसर धार छोड़ी ! अरार करके
 उत्तर उचित सिद्धराज ने दिया उसे
 भोग गये दोनों एक दूसरे के स्नेह में ^१ !

मदनवर्मा ने ठाकुरों की 'ठसक' के विरुद्ध जयसिंह को परामर्श दिये जिससे उन्हें बड़ी शान्ति मिली और धृष्टा के आवेश में यह विचारने लगा कि—

भोगी है मदनवर्मा किंवा एक योगी है ^२ !

उपरिलिखित संक्षिप्त कथावस्तु के अध्ययन से यह अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तजी की भावना का केन्द्रीय बिन्दु क्या है । 'सिद्धराज' लिखकर उन्होंने ने मानों वीर रस की आँखों से आँसू छुलाए हैं । खूनों की व्यासी बलवार कथानक के अन्त में मानों प्रेम का प्रतीक हो जाती है और शोणित की छालिमा गुंरुग और गुठाल की छालिमा में परिणत हो जाती है । हमारा विचार है किसी दर्पोद्धत वीर का इस प्रकार युद्ध से विरत होना

१ सिद्धराज पृ० १२४ ।

२ „ पृ० १३१ ।

वशांत कारुण्य का एक व्यलंघन चित्र है। ईसा की पूर्व-शताब्दियों में एक बार और वीर रस का ऐसा ही पतन हुआ था जब कलिंग विजय ने अशोक को सर्वदा के लिये युद्ध द्वारा भौतिक विजय की ओर से विमुख बना कर 'हृदय-विजय-रस' का रसिक बनाया था। जिस सिद्धराज ने रंगार का सिर काट कर अपने कोट के फँगूरे पर लटका दिया था, जिस सिद्धराज ने एक एक कर के सभी प्रतिद्वन्द्वियों का मान-मर्दन किया था, उसीका अपनी ठाकुरी ठसक छोड़ कर मदनवर्मा से मिलना और उसके घरों में परस्पर प्रेम की दीक्षा लेना एक ऐसी घटना है जिसका प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ना अनिवार्य है। इस संबंध में यह तर्क किया जा सकता है कि सिद्धराज की समर-विरति शान्तरस की शोहत है न कि कारुण्य की; किन्तु प्रथम तो यह कि शान्त रस के लिये केवल युद्ध-विरति की अपेक्षा नहीं है, किन्तु साथ ही साथ भगवद्भक्ति की भी अपेक्षा है। दूसरे, सिद्धराज की मनोवृत्ति में जो शान्ति हुई उसकी रूप-रेखा का पारिभाषिक लक्षण जो भी हो, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि समर में असंख्य प्राणियों के संहार ने उसके हृदय में करुणा का सत्रक अवश्य किया होगा। यही करुणा समय पाकर वही प्रकार अंकुरित हो गई जिस प्रकार एक चिमगायी अपने ऊपर के रास के आवरण के हटाने से ही प्रवर्धित हो उठती है।

काव्य के नायक के अतिरिक्त अन्य जो पात्र-पात्रियाँ काव्य में आई हैं उन्हें भी कवि ने प्रायः कारुणिक परिस्थितियों में ही

चित्रित किया है। यथा, प्रथम सर्ग में ही जो वन्दिनी क्षत्राणी अपने वीर पुत्र के साथ राजमाता के पास लाई गई उसकी वैधव्यगाथा तथा निस्सहायावस्था को मुन कर वे सिहर उठीं। किन्तु जैसा पिछले पृष्ठों में बतलाया गया है कवि का आदर्शवाद फाट्टणिक परिस्थितियों का विधान करते हुए भी अपने पात्रों को उनके शिफार करने से बचा देता है, तदनुकूल वन्दिनी क्षत्राणी केवल मुक्त ही नहीं कर दी गई बल्कि राजमाता उसकी वश-वर्त्तिनी-सी हो गई।

मालव के शासक नरवर्मा का भी चरित्र करुणात्रं डेरनी से ही लिखा गया है। नरवर्मा वीर था और वह जयसिंह की सेना को बरसों रोके रहा, किन्तु अन्त में उसे वीर-मति मिली। अपने देश की रक्षा में इस बहादुरी से अपने प्राणों की बलि चढ़ाना ऐसा गौरवान्वित कार्य था जिससे जयसिंह के हृदय पर भी प्रभाव पड़ा और उस पर विषाद की रेखा खिंच गई। उसने तत्क्षण युद्ध रोक दिया और अपने योग्य प्रतिद्वन्द्वी के प्रति समवेदना प्रकट की।

स्त्रीपात्रियों में रानकदे का चरित्र आरंभ से ही दुःख है। प्रह्लोप से वह 'स्वर्ण-प्रतिमा' सिन्धु राजकुमारी एक कुंमकार के घर में पाली पोसी गई और 'पल्लव में फूली हेम-नडिनी' के समान अनुकम्पा का कारण बनी। जवरंगार ने उसका पाणि-ग्रहण किया तो उसका सौभाग्य-सितारा चमकता हुआ दीप्त पड़ा, किन्तु जयसिंह की महत्त्वाकांक्षा और रूपलिप्सा राना रंगार को

क्यों कर भट्टा छोड़ती ? मुठट्टा—घनघोर ! राना के 'छिन्न मुंठ' और 'भिन्न रंड' तक ने लट्कार लड़ी । किन्तु जयसिंह खितयी ट्टा और राना रानक को विषया छोड़ चले वसा । भावले जयसिंह ने अपनी प्रविष्टि की अग्नि में राना के दो कुमारां के भी खून से अपने हाथ रंग डिये और राना का छिन्न ममरु कोट के फँगूरे पर डेंगया दिया । रानकदं पंदिनी हुई और यद्यपि जयसिंह ने उसे पर्यवृत्तायिनी बनाने की चेष्टा की किन्तु सती ने अपना सर्वस्व निभाया । जिस तरह भगवान् कृष्ण ने द्रौपदी की लाज रक्षायी थी वही प्रकार जगदेव ने रानक की लाज रगडी । किन्तु वह सारा कथानक इतना मयमाती है कि उसे पढ़ कर हृदय टूट टूट हो जाता है । कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ मूर्त्तिमती बनकर घन कर छेदनी की नोक से उतर पड़ी हैं—

गोंड की रागिनी में गँजती है आज भी ✓

उम हतभागिनी की पीढ़ा बदभागिनी ।

अक्षय-मुद्राग-भरी, त्यागभी तान है

क्रिन्नी विराग-अनुराग-भरी मूर्च्छना^१ ।

रानकदे के इतिवृत्त में 'हतभागिनी' और 'बदभागिनी' दोनों दशाओं का संश्लेष, उसके चरित्र में एक ही साथ 'अक्षय मुद्राग' और 'त्याग' का अभिनिवेश, एवं उसको कर्त्तृ-चरित्र में साथ ही साथ 'अनुराग' और 'विराग' के संगीतात्मक संदेश का समावेश गुप्तरी-सरीसों कलाकार का ही मृज्जन हो सकता है ।

अपने अन्तिम छोटे-से प्रबंधरुप्य 'नहुष' की रचना की परिस्थिति पर गुप्तजी ने स्वयं प्राक्यन में प्रकाश डाला है। उनके बाल्यमित्र 'मनीषीजी' की आकस्मिक मृत्यु से उनके हृदय पर एक बहुत बड़ा आघात पहुँचा और उससे सान्त्वना पाने के लिये उन्होंने रामायण और महाभारत का अध्ययन आरंभ किया। इसी अध्ययनक्रम में महाभारत के दशोपपर्व में आए हुए नहुष-वृत्तान्त ने उनकी हृदयीया को हठान् संकृत कर दिया। कालिदास ने भी 'रघुवंश' के त्रयोदश सर्ग में अगत्य-श्रुति की खर्चा में राजा नहुष के कथानक को अमरत्व प्रदान करते हुए लिखा है कि—

तम्याविग्रहं परिशुद्धहेनो—

सौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ।

भूमेऽत्रात्रेण पदान्मवोनः

प्रमंगयां यो नहुषं चकार ॥ १३।३६

संक्षेप में कहानक यह है कि चंद्रवंशीय राजा नहुष के पुत्र नहुष एक बड़े पराक्रमी और बुद्धिवाली राजा हुए। इसी अवसर पर अमुर किन्तु मादाणकुलोद्भव वृत्र के संहार के फलस्वरूप स्वर्गाधिपति इन्द्र को प्रायश्चित्त करना पड़ा और कुछ समय जल में शिप कर रहना पड़ा।

आज सुराज्य बक स्वर्गप्रष्ट हो गया
और स्वर्गवेभ्य दची का सब ग्यो गया^१।

अब इन्द्र की अनुपस्थिति में स्वर्ग की राजगद्दी नहुष की दी गई। यस कथा था—स्वर्ग की अतुल विभूतियाँ और उर्वशी की अनुपम भ्रमंगियों ने स्वर्ग के इष्ट तप अधिकारी को अपने मायाजाल में फँसा लिया। इसी बीच संयोग से नहुष को 'अधी की एक छलक' मिली और उसके रूपमाधुरी की बिलसो राजा के हृदयप्रदेश में कौंध गई और छोड़ गई वहाँ पर एक तीव्र वमना!

यथा मन्त्रत्य मेरा जो मिली न सची मामिनी ?
बाहर की मेरी सखी भीतर की स्वायिनी।^२

फलतः नहुष की संदेहाहारिणी दूती ने इन्द्राणी के सामने स्वर्गाधिप की प्रणययाचना रखी। अब तो इन्द्राणी के सामने ऊ विषम द्विकोटिक वज्रहत (Dilemma) आ खड़ी हुई।

१ नहुष पृ० ४।

२ " पृ० ३११

अपने पद की हैसियत से वह स्वर्गलोक के तत्कालीन अधिपति की रानी कही जा सकती थी, किन्तु अपने प्रेम और सतीत्व की हैसियत से वह तत्कालीन स्वर्गध्वज इन्द्र की प्रेयसी थी । पद और प्रेम में परस्पर प्रतिस्पर्धा आ पड़ी थी । अतः 'यद्यपि पहले उसने दूती से कुछ कटु बातें कही, फिर भी कानूनन अपना छुटकारा न देस चतुरता से मुक्त होने की सोची । हमने पहले भी देखा है कि कवि को अपनी स्त्री-पात्रियों के आदर्श के प्रतिपालन के लिये पक्षपात-सा है; अतः यहाँ भी पद और प्रेम के बीच जो द्वन्द्व मचा था उस पर शची को विलयिनी बनाया गया है । परन्तु साथ ही साथ अन्तर्द्वन्द्व के विश्रण में कवि कारुण्यमयी रक्तियों का यथावसर नम्रावेश करने से बाज नहीं आया है । शची ने नहुष की ओर से आई हुई दूती से कहा—

साँपा धन धाम तुम्हें और गुण-कर्म भी
रख न सकेंगी हम अंत में क्या धर्म भी^१ ।

सौर, उसकी 'मंत्रणा' फली और नहुष ने स्वीकार कर लिया कि प्रथम मिलन के दिन वह सज धज कर सप्तर्षियों के कंधों पर आवेगा । सप्तर्षि लाचार थे, देवाधिदेव की आज्ञा टालते वो कैसे ? अतः चली सप्तर्षियों के कंधों पर पालकी, और चला उस पालकी पर मनोरथों के हिंदोरे में शूलता हुआ अभिनव इन्द्र । किन्तु कहाँ शिथिल-गति बूढ़े ऋषि और कहाँ नहुष की वेगवती

चतुर्कता ! उसने सर्प ! सर्प ! (बढ़ते चलो ! बढ़ते चलो !)
 कहने पर भी मंद चाल चलनेवाले प्रभुस शृषि अमृत्य को पाद-
 प्रहार द्वारा उत्तेजित करना चाहता। बस ! तरुण उस समुद्रजल-
 शोपी शृषि की भ्रुकुटि की एक ही भंगिमा ने नहुष को इन्द्रलोक
 के चतुर्गुण शिरारों से हटा कर मर्त्यलोक की सर्पयोनि में
 पटक दिया।

नहुष के इस 'पतन' ने गुप्त जी के हृदय-अवेग में बहती हुई
 कल्याण की अन्तर्धारा को जागरित कर दिया है और प्रस्तुत निबंध
 के दृष्टिकोण से काव्य का यह अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। नहुष की
 भाँसों ■ पट सुलभ; उसे अपनी अत्यधिकारजनित अनधिकार-
 चेष्टा का भीषण स्वाद आया, और छुड़क पड़ा भाँसों का
 प्याला ! तौसी आत्मम्लानि के आवेश में यह कहता है—

मानता हूँ, भूल हुई, खेद मुझे इसका

सौंपे वही कार्य उसे धार्य हो जो जिसका^१ !

यदि कवि अपने कथानक की पूर्णाहुति आत्मभर्त्सना के इसी
 दृश्य से कर देता तो हम उसे निराशावादियों (Pessimists)
 की श्रेणी में शुमार करने को बाध्य होते; किन्तु जब कुहेसे
 के दृष्ट के दृष्ट निरिच्छ व्योमविज्ञान पर विररकरिणी रींच देते
 हैं; तो भी कभी-कभी चुपके से राका की लजीली चितवन नजर
 आ ही जाती है। उसी प्रकार प्रत्येक मनोविज्ञान का विद्यार्थी

इसका साक्ष्य देगा कि कोई भी मानव-हृदय नैराश्य से संतुष्ट नहीं हो सकता; वह घने अन्धकार में भी आशा की टिमटिमाती दीप शिखा की खोज करेगा ही। नहुष का हृदय भी आत्म-विश्वास के भावों से भर कर ढोल छठता है कि—

फिर भी उठूँगा ओर चढ़ के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं ।

नैराश्य से भरी कठणाजनक परिस्थितियों में भी आशा का सन्देश देना गुप्तजी के काव्यों की विशेषता है, और 'नहुष' भी इससे खासी नहीं है । /

‘शक्ति’ एक छोटा-सा प्रबंधकाव्य है—गुप्तजी की धार्मिक भावुकता का परिचायक। संक्षिप्त रूप में कथावस्तु यह है कि :-

दैत्यों के दारुण अत्याचारों से पीड़ित, और फलतः अपने ही घर-बारों में अपने अधिकारों से वृद्धित, नैराश्य-सागर में गोते लगाते हुए देवगण प्रतिकार की चिन्ता में किङ्कर्तव्य-विमूढ़ बने बैठे थे कि हरि ने शृङ्खलियों में बंधकता का आधान करते हुए निःशंकता के साथ उद्घोषित किया :—

जियो और जूझो, जीवन का चिह्न यही है तान

देव-यज्ञ ही दूर करेंगे दैत्यों का उत्पात ।^१

किन्तु ये यज्ञ व्यक्तिगत नहीं होने चाहियें, हमें अपना संगठन करना होगा और ‘सम्मिलित शक्ति’ से शत्रुओं का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि—

संघ-शक्ति ही कलि-दैत्यों का भेदगी आतंक ।^२

इतना कदना या कि विष्णु के शरीर से दामिनी-सी दमकती एक ज्योति निकली; इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मादि सभी देवताओं के शरीर से भी शत-सहस्र ज्योतिःपुंज निकल पड़े, और ज्यों से निर्मित हुई मूर्तिमती देवी महाशक्ति । फिर तो चरहार पर चरहार संभृत होने लगे । यदि क्षीर-सिंधु ने मनोहरण वन्नामरण दिये, तो विश्वकर्मा ने परशु भेंटा; हिम-गिरि ने बाहनार्य सिंह को हाजिर किया, तो यनदेवी ने हरिचंदन की मंगलमयी रेखा अलिक-फटक पर संचित कर दी । तात्पर्य यह कि विश्व की सौम्य तथा रौद्र दोनों प्रकार की विमूर्तियों देवी में सन्निविष्ट हुई ।

सबमुच—

कैमा मुन्दर कैमा भीषण था देवी का रूप ।^१

इस प्रकार सजकर दुर्गा ने महिषासुर आदि दुर्दमनीय दैत्यों का दहन किया—भीषण आघात प्रतिघात और शोगिल-पात के पदवान् ! देवों की जयज्वनि से स्वर्ग गूँज उठा और अम्बिका ने प्रतिज्ञा की कि—

उद्धत होकर अनुर करेंगे

जब जब अन्याचार—

नव तब जग-उद्धार करेंगी

लंगा मैं अवनार ।^२

कथानक के इस अंश तक मुख्यतः वीर रस का ही परिपाक हुआ है और कारुण्य की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य के मुख्यांश की कोई विशेष महत्ता नहीं। फिर भी कथानक के शेष भाग में कवि ने कुछ ऐसी पंक्तियाँ दे दीं जो हमारे हृदय के मर्मस्थल को छूँ बिना नहीं रह सकतीं। जहाँ उसने सुर-पुर की 'दीन-मुखी, प्यासी-सी पीड़ित मुरझी लता-समान' पुरदेवी का दयनीय चित्र खींचा है और उस 'अधमरी मृगी' का वर्णन किया है जिसे कोई निपाद वसी अवस्था में छोड़ भागा था, तथा जिसे सुरपति ने सविपाद नेत्रों से देखा और दुरत छाती से लगा लिया—यहाँ वरयस हमें आदिश्रुति पाल्मीकि तथा उनकी अमर-साहित्यिक कृति की मूलीभूत घटना याद आ ही जाती है। निपाद यहाँ भी; निपाद यहाँ भी ! परस्पर-मिथुनित क्रीड-मिथुन के प्रति आकर्षक शर-प्रहार ने श्रुति की भावुकता पर इतना तीव्र आघात किया था कि उसके हृदय में सञ्चित मानव-समवेदना का प्याला छलक पड़ा था, और उस छलके हुए प्याले की चटती हुई ललित लहरियाँ कंठदेश से होती हुई रसना के अग्रभाग पर कलात्मक नृत्य करने लगी थीं। वसी दिन विश्व के आदिकवि के कंठ से काव्यजगत की आदिम एवं कुरुगिम पंक्तियाँ अनायास ही फूट पड़ी थीं—

मा निपाद प्रतिष्ठांस्त्वमगमः शस्वतीः समाः ।

यत्क्रीडमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

‘शक्ति’ की महत्ता एक दूसरी दृष्टि से भी आँकी जा सकती है। प्रभुन पंक्तियों के लेखक ने जब ‘शक्ति’ का अध्ययन किया तो वैसे इस काव्य में एक अरूप रूपक-सा व्यक्त हुआ। संभवतः कविने हम भारतीयों को सुरों की भूमिका में कल्पित करते हुए हमारी नैराश्यमयी मनोवृत्ति के लिए आशा का संदेश दिया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब तक हमारी प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमें पनपने नहीं देती, तब तक हम कर ही क्या सकते हैं ? परमुखापेक्षा तो अनिवार्य ही है ? किन्तु नहीं, गुप्तजी ने इस काव्य के द्वारा हमें यह बताया है कि दूसरों के मुँह ताकने से भारत का दुःख दूर होने वाला नहीं है। शक्ति हमी में है। यदि आज करोड़ों-करोड़ भारतीय अपने तेजःपुत्र को पुजित कर दें तो हमारी ही निहित शक्तियों से एक ऐसी महाशक्ति का संगठन होगा जो--

एक ही अंभंगिमा से, एक ही हुंकार से
 दूर कर देगी हमारे देश की सब ईतियाँ !

स्फुट काव्य

गुमर्जी की प्राथमिक रचनाओं में 'भारतभारती' ने जितनी ख्याति लाभ की, उतनी और किसी ने नहीं। कवि को 'भारत-भारती' को भारत ने अपनी भारती समझ कर अपनाया। भारत के कोने-कोने से आवाज आने लगी—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी।

आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी ॥

कवि की छेदनी के लिये फलतः तीन समस्याएँ आ पड़ी हुई।

(i) हम कौन थे ?

(ii) हम क्या हो गए हैं ?

(iii) हम क्या होंगे ?

और इन तीनों का विवेचन उसने तीन खंडों में किया—

(i) अतीत खंड।

(ii) वर्तमान खंड।

(iii) भविष्यन् खंड।

(i) अतीतसंदः—अद्यतन की चरम सीमा पर अधि-
 ष्टित भारत का भावुक कवि अपने मुनहले अतीत की याद करता
 है । वह 'संसार का शिरोमणि' भारत ! वह 'देवलोक-ममान'
 भारत ! अतीत इतिहास का पन्ना-पन्ना कवि की अन्तर्दृष्टि के
 सामने गुजरता है—चित्रपट के घटना-सन्तान के समान ।
 'प्रकृति का पुण्य लोटानयल' आर्यावर्त्त—जहाँ हमारे पूर्वजों ने
 सभ्यता-सुन्दरी की प्रथम विभूतियाँ पाई थी ! जब आज के तया-
 कथित 'सभ्य' पश्चिमीय राष्ट्र वर्षरता के गंभीर गर्त में पतित थे,
 जब वहाँ के निवासी 'दिगम्बर' रूप में जंगलों की छाक छानते
 फिरते थे, उस समय—सभ्यता की उस मुनहली उपा में—
 हमारे ऋषि-मुनि वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों के गंभीर तत्त्व-
 ज्ञान की खर्चा कर रहे थे; गौतम, कपिल, कणाद आदि पद्-
 दर्शन का दर्शन करा रहे थे, मनु और याज्ञवल्क्य राजनीति और
 समाजनीति के नियम निर्धारित कर रहे थे, तथा कर रहे थे
 धार्मिक और वेदव्यास अमर काव्यों का मृज्जन ! क्या विश्व के
 किसी विभाग ने शिवि, हरिश्चन्द्र और दधीचि-समान दानी पैदा
 किये हैं ? क्या संसार के किसी कोने में प्रह्लाद, ध्रुव तथा
 अभिमन्यु-समान दृढ़-अतिष्ठ शिशु-वीरों ने जन्म लिया है ?
 क्या अत्रि और अनुमूया, गान्धारी और दमयन्ती-जैसी
 ललनाएँ किसी भी अन्य राष्ट्र के इतिहास में मिल सकेंगी ?

ॐ इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता

सारांश यह कि—

हे आज पश्चिम में प्रभा जो, पूर्व से ही है गई ।

और यदि विश्वास न हो तो प्रकृति से भी पूछ देखें, क्योंकि—
होता प्रभाकर पूर्व से ही उदित, पश्चिम से नहीं ।

‘प्राचीन भारत की एक झलक’ शीर्षक कविताओं में कवि ने भारत-भूमि, उसकी जलवायु उसके स्त्री-पुरुषों के दैनिक-जीवन, उनकी शिक्षा-दीक्षा और उनके चरित्र का एक सामूहिक किन्तु संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । यह चित्र एक आदर्श भारत का चित्र था । किन्तु समय ने पलटा खाया । महाभारत का युद्ध हमारे पतन का सूत्रपात सिद्ध हुआ । फिर तो विदेशियों-मुख्यतः ‘अहले इस्लाम-दल’-के आक्रमणों ने भारत को जर्जर

है—यह है गुप्तजी का अत्यादर्शवाद । यह अत्यादर्शवाद कवि को कभी-कभी उन असंगतियों के प्रति अन्धा बना देता है जिन्हें वर्तमान विज्ञान युग गवारा नहीं कर सकता । उदाहरणतः, पूर्वज स्त्रियों की प्रशंसा में उनके प्रताप से सूर्योदय का स्थिति हो जाना, पालिग्रय के पलस्वरूप अदृष्ट का ज्ञान हो जाना आदि घटनाओं का उल्लेख किया गया है । ऐसे प्रसंगों में ‘हरिऔध’ ने प्रायः कहा, यह ध्यान रखना है कि अतर्कसंगत बातें न आने पावें; और फलतः ‘प्रियप्रवास’ से बहुत-सी पौराणिक प्रिय परम्पराओं का प्रवास कर दिया गया है । गुप्तजी और ‘हरिऔध’जी की भगवद्भाषना में भी लगभग इसी प्रकार का अन्तर है—जहाँ गुप्तजी के भगवान ‘कर्तुमर्हन्मन्यथाकर्तुं समर्थः’ है वहीं ‘हरिऔध’जी के उपास्यदेव ऐसी चेतुकी धारणाओं से परे हैं ।

कर दिया और जयचंद-जैसे कुशुत्रों ने तो ढहते हुई इमारत की ईंट से ईंट बजा दी। फिर पीछे महाराणा प्रताप-जैसे वीरों ने लाख चेष्टाएँ की, किन्तु हमारी लुटी हुई सम्पदा लौट नहीं सकी।

गुप्तजी की दृष्टि में विश्व के इतिहास में भारतवर्ष का यह अधःपतन एक अत्यंत करुणाजनक घटना है; और करुणा की प्रबल भावना की गंगोत्री से ही 'भारत-भारती' की त्रिपथगा फूट पड़ी है। कवि के हृदय में कारुण्य की यह धारा इतनी प्रबल है कि 'अतीत खंड' में भी—जिसमें अतीत का आदर्श प्रस्तुत करना ही उसका मुख्य ध्येय है—वह अपनी विफलता को रोक नहीं सकता और भारत की 'दुर्दशा' पर भी यथास्थल अपना मनस्ताप प्रगट कर ही देता है। कभी कभी उसके हृदय में यह सोचकर एक सान्त्वना की भावना जागरित हो उठती है कि—आखिर !

संसार में किमका समय है एक सा रहता सदा !

क्योंकि—

उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखंड है।^१

पर इस योग्यी सान्त्वना की बाँध कारुण्य के वेगधान आवेग की समझती हुई कूलंरूप स्रोतस्विनी को के बिन्दु रोकने लगा ! 'अतीत खंड' का अंत होते होते कवि की अन्तरात्मा से बरबस

१ भारत भारती पृ० १।

२ " पृ० २।

एक कसक चठती है और उसकी कलम की नोक पर बल खाती है—
हुई 'भारत-भारती' की पंक्तियों में उतर पड़ती है—

संसार-रूप शरीर में जो प्राण-रूप प्रसिद्ध था
सब सिद्धियों में जो कभी सम्पूर्णता से सिद्ध था ।
हा हन्त ! जीते जी वही अब हो रहा म्रियमाण है
अब लोक-रूप-भयंकर में भारत कलंक-समान है ॥^१

एक ही पद्य में अतीत के वैभव की स्मृति और वर्तमान की
दीनता की अनुभूति-ये घटना के दो परस्पर विपरीत पक्ष मानों
अपने वैषम्य और व्याघात के कारण हमारे समस्थल पर आघात
पहुँचाते हैं, और अनायास ही हमारी हृदय-बीणा की स्वर-
लहरियाँ काँप चठती हैं—

हा देव ! अब वे दिन कहाँ हैं, और वे रातें कहाँ !^२

(ii) वर्तमान खंड—इस खंड की आदिम पंक्तियाँ भी
हमारी चेतना में वसी वैषम्य का संघार करती हैं जिसका
वर्लेख अभी किया गया है । स्थल-स्थल पर ऐसी पंक्तियों के
दुहराए जाने का एक मनोवैज्ञानिक उद्देश्य है—वह यह कि एक
ही तरह की तान या गान को सुनते-सुनते हमारी अनुभूति सुप्त
अथवा शिथिल न हो जाय । वैषम्य और व्याघात के झोंके मानों

^१ भारतभारती पृ० ८४ ।

^२ " पृ० ८४ ।

ससे सजग करते चलते हैं। कवि के अन्तराल से एक हक दठती है और लेखनी की पुतलियों से मसि के आँसू चू पड़ते हैं—

जिस लेखनी ने है लिखा उत्कर्ष भारतवर्ष का
लिखने चली अब हाल वह उसके अमित अपरूप का
जो कोकिला नन्दन-विपिन में प्रेम से गाती रही
दावान्नि-दग्धारण्य में रोने चली है अब वही !!^१

कहा की दृष्टि से 'अतीत खंड' से 'वर्तमान खंड' कहीं अधिक उत्कृष्ट है। कारण यह कि इसमें कवि के हृदय की कारुण्य-धारा स्वच्छंद एवं अमंद निप्यन्द के समान प्रवाहित हुई है। भारत के प्राचीन भग्नावशेषों, यहाँ के दरिद्र और दुखी किसानों, दुर्भिक्ष-पीड़ित मजदूरों और व्याधिग्रस्त सन्तानों की दशा पर कवि भाठ भाठ आँसू गिराता है। कारुण्य की ग्वाला से मानों उसकी अन्तरात्मा पिघल दठती है और कविता-सरिता के रूप में अजस्र गति से बह पड़ती है। उदाहरण के लिये केवल दो प्रसंग उद्धृत किये जाते हैं—१. दुर्भिक्षपीड़ितों का चित्रण और २. दीन-हीन गोर्बों का कण-कन्दन। दुर्भिक्षपीड़ितों की दयनीय दशा का उद्देश्य करते हुए कवि कहता है—

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।

निरुले हुए है दाँत बाहर, नेत्र भीतर है फँसे
किन शुष्क आँखों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे ?

ये पंक्तियाँ हमारी आँखों के सामने मानों सन दुर्भिक्ष-दलित
प्रस्थि-पंजरों को मूर्तरूप में लाकर रखी कर देती हैं, और हृदय
पर उनकी कारुणिक परिस्थिति की एक अमिट रेखा-सी तिथि
गती है ।

गोयध के विरुद्ध अपने विचार प्रगट करते समय कवि ने
अपनी कलम गीलों को ही समर्पित कर दी है । कवि यदि चाहता
तो श्वयं गीलों को तृतीय पुरुष (Third person) में रख कर
उनके संबंध में एक लंबी 'स्पोच' झाड़ देता और उनके प्रति
हिंसकों से दया की अपील करता । कारुण्य का उत्पादन वैसे
भी होता । किन्तु, उस दशा में—

दाँतों तले तृण दाग कर हैं दीन गाँव कह रही—

“हम पशु तथा तुम हो मनुज, पर गोयध क्या तुमको यही !”

—आदि पंक्तियों को पढ़ने से एक दीन-हीन निःसहाय परिस्थि-
तियों में पड़ी गेया का जो अचलंत विग्र मानस-पटल पर अंकित
हो जाता है, यह न होने पाता । ऐसे विग्रण मानों मूर्तरूप में

आलंघन-विभावों को हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं और इस प्रकार रस के प्रचुर परिपाक में सहायक होते हैं । ■

‘भारत-भारती’ में गुप्तजी ने व्यंग्य (Satire) के द्वारा भी हमारी कारुण्य-कलित परिस्थितियों की ओर संकेत किया है । मतलब यह कि कहीं कहीं हास्य की परिणति कादम्ब में दिखलाई गई है । हास्य और कारुण्य का ऐसा समन्वय केवल सफल कलाकार ही कर सकते हैं । करुणाजनक परिस्थितियों में हास्य भगवा व्यंग्य से काम लेने का एक विशेष उद्देश्य हुआ करता है । जिस प्रकार एक चतुर चैंप कड़वी दवाओं को भी मधुर रूप देकर

* इस प्रसंग में मुझे एक सच्ची घटना याद आती है जिसका दस्तख्त बननेवाला न होगा । एक मेरे मित्र याने के दारोगा थे । उनके एक परम मित्र ने उनसे अपने खाने के लिए एक बकरी का बच्चा माँगा । परन्तु संभव ऐसा था कि मेरे दारोगा मित्र उस अपने मित्र की बात ठाठ नही सकते थे, किन्तु फिर भी स्वयं बेपत्ता होने के कारण खात्या में बहुत बड़ी कातिलगति का माय प्रयोग हो रहा था । अन्त में उन्होंने बकरी का बच्चा मित्रताया तो सही पर उसके गले में एक धागब में उस बच्चे की ओर से ही एक मार्मिक आवेदन-पत्र लिख कर बँपका दिया । उस आवेदन-पत्र में दारोगा-पूरा बचन में बकरी के उस छोटे से स्वयं शोक-निष्ठा माँगी थी । परिणाम यह हुआ कि दारोगा के उस कसाहरी मित्र को एक टेस-सी लगी और न केवल उसने उस बच्चे को जीवन दान दिया बल्कि स्वयं भी मजहूर बाना दिया ।

चिकित्सार्थ उनका प्रयोग करता है, उसी प्रकार व्यंग्य-काव्यकार हमारे सामाजिक तथा राजनीतिक रोगों के निराकरण के लिये एक ऐसा उपचार ढूँढ़ निकालता है जिसमें हमारे रोग भी दूर हो जायें और उसकी सेवन-विधि में हम रोगे भी न पावें। 'वर्त्तमान रस' के कुछ अंशों में गुप्तजी ने भी इसी तरह के शर्करा-पृत किनाइन (Sugar-coated quinine) से काम लिया है। उदाहरणतः रईसों के वर्णन में—

‘हो आध सेर कबाब मुश्क़ो, एक सेर शराब हो
नूरेजहाँ की सल्तनत है, ख़ूब हो कि ख़राब हो !’
कहना मुग़ल-सम्राट् का यह ठीक है अब भी यहाँ
राजा-रईसों को प्रजा की है भला परवा कहाँ ?’

उसी प्रकार विदेश से लौटे हुए शिक्षितों की चर्चा करते हुए गुप्तजी लिखते हैं कि—

‘ग़ारह बस दिल्ली रहे पर भाँड़ ही शोका किये ।’^१

इन पंक्तियों के पढ़ने से पहले तो अक्षरों पर एक मुस्कान की रजत-राजि दीढ़ जाती है किन्तु फिर दूसरे ही क्षण इन रईसों और इन विदेशी ढर्रे के ‘विजातीय द्रव्य’ बाबुओं की दशा पर गौर करते ही भाँसू की दो बूँदें दुलक पड़ती हैं।

१ भारतभारती पृ० १११।

२ ” पृ० ११८।

तीर्थों, तीर्थ पंढों, ऐदंयुगीन क्षत्रियों और नरेशाजों के घर्जन में भी गुप्तजी ने तानेवाजी से काम लिया है। तीर्थ-पंढों के संबंध में वे लिखते हैं—

वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य, हैं लटना, झगटना और अटना मुस्य उनके कार्य हैं।

क्षत्रियों के विषय में भी—

केवल पतंग विहंगमों में, जलचरों में नाव ही वस भोजनार्थ चतुष्पदों में, चारपाई बच रही।

नरेशाजों के संबंध में भी उनकी चक्ति सुन लीजिये—

क्या मर्द है हम बाह बा ! मुर नेत्र पीले पड़ गए
तन सूख कर काँध हुआ, सब अंग ढीले पड़ गए
मर्दानगी फिर भी हमारी देख लीजें कम नहीं—
ये भिर्नाभिनाती मस्त्रियों क्या मारते हैं हम नहीं !

ऐसी सभी व्यंग्योक्तियों की चरम सीमा है हृदय में आत्म ग्लानि और वेदना का जागरण; मानों कारुण्य के अन्तःसूत्र के आधार पर ही इन चक्तियों के मोती पिरोए गए हों।

‘वर्तमान खंड’ की पूर्णावृत्ति काव्यनिरुद्धांतों से ही की

१ भारतभारती पृ० १२७।

२ “ ” पृ० १३१।

३ “ ” पृ० १४४।

गई है—भारतवर्ष की अधोगति पर। विकलता के आवेग में कवि घुटने टेक देता है और अञ्जलिबद्ध हो प्रार्थना करता है—

हा राम ! हा ! हा कृष्ण ! हा ! हा नाथ ! हा ! रक्षा करो !!

(iii) भविष्यत् खंडः—अतीतखंड के गौरवित सिंहावलोकन और वर्तमान खंड के कठोर आत्मभर्त्सन के पश्चात् भविष्यत् खंड आशावाद का संदेश-वाहक बनकर हमारे सामने आता है। हमारा कवि हमारी आँखों के सामने अधःपतन का नम्रचित्र खींचता हुआ भी इसे 'अ-इलाज मर्ज' नहीं समझता। 'प्रस्ता-पना' में वह स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है कि—“संसार में ऐसा कोई काम नहीं जो समुचित उद्योग से सिद्ध न हो सके। परन्तु उद्योग के लिये उत्साह की आवश्यकता है। बिना उत्साह के उद्योग नहीं हो सकता।” इसी उत्साह को, इसी मानसिक वेग को उत्तेजित करने के लिये कवि ने 'भारत-भारती' की कविता को एक साधन बनाया है। वह भारतीय जनता को आवाहन करता है कि—

होकर निराश कभी न बैठो, नित्य-उद्योगी रहो ।^१

उसे अपनी प्राचीनता में अन्धविश्वास नहीं है। 'जैसी धड़े बयार, पीठ तब वैसी कीजै'-वाला सिद्धान्त उसे मान्य है। अतः वह उस 'हंस-जैसी पातुरी' का उपदेश देता है जिसके द्वारा हम प्राचीन और नवोन दोनों में से उपादेय बातों का ग्रहण कर सकें।

यदि इस युग में भी कोई नए नए यंत्रों, कल के हलों तथा रेलों और तारों से असहयोग करना चाहे, तो उसकी मूर्खता ही सिद्ध होगी, क्योंकि—

विपरीत विश्व प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं ।^१

अतः कवि भारत के भाग्याकाश में उस सान्ध्य-क्षितिज का सृजन करना चाहता है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य-तीनों अपने को प्रतिफलित और समन्वित कर दें, ताकि हम कवियत्री के प्रयत्नों में यह मधुर आलाप ले सकें कि—

प्रिय ! सान्ध्य गगन मेरा जीवन ।

यह क्षितिज बना धुँधला विराग

नव अरुण अरुण मेरा सुदाग

छाया-सी काया वीतराग

सुधि-भीने स्वप्न - रंगीले धन ॥^२

काव्य के उद्रेक की दृष्टि से भविष्यत् तपह भी अपना महत्त्व रखता हो है, क्योंकि जिस प्रकार कभी कभी आगे कूदने वाले को दो चार डेग पीछे चल कर अपने में गतिशीलता का समावेश करना पड़ता है, अथवा जिस प्रकार प्रातःकालीन सूर्य अस्ताचल की अचित्यकाशों से ही उषक कर उदयाचल की घोंदी

१ भारतभारती पृ० १६० ।

२ महादेवी वर्मा-सान्ध्यगीत (यामा-पृ० १८७) ।

की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार कवि को पाठकों के मानस-
पट पर भविष्य का उज्ज्वल चित्र चित्रित करने के लिये जहाँ-तहाँ
अतीत का धूमिल पृष्ठाघार देना ही पड़ता है। उदाहरणतः,
इस खंड की सर्वप्रथम पंक्तियाँ ही पहले हमें जापबीति की सुधि
दिला देती हैं, तब आगे पैर रखती हैं—

हतभाग्य हिन्दु जाति ! तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ ?
वह शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ ?^१

सारांश यह कि 'भारत-भारती' के भव्य भवन के तीनों
'खंडों' की भित्तियाँ कारुण्य की ही आधारभूमि पर निर्मित
हुई हैं।

‘स्वदेश-संगीत’ गुप्तजी की ‘स्वदेश-सन्मन्धिनी फुटकर कविताओं’ का एक संग्रह है। इसे ‘भानमती की पिटारी’ ही समझिये, क्योंकि पुस्तककार देने की इच्छा पीछे हुई; पहले तो इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं में ही ये कविताएँ अधिकांश में प्रकाशित हुई। प्रकाशक ने पुस्तक के शिथिल धागे में इन सुमनों को पिरोते समय यह आशा रखी थी कि यह भी ‘भारत-भारती’ की समकक्ष होकर रहेगी; किन्तु हमारा अनुमान है कि दोनों में जर्मन-आसमान का अन्तर है। ‘भारत-भारती’ को एक दृष्टि से प्रबन्ध-काव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसका विद्यार्थ एक पूर्वनिर्णीत आयोजना के अनुसार हुआ है और भिन्न-भिन्न रंगों के मनोवैज्ञानिक आधार के एकत्व के कारण उनमें आकर्षण-सन्तान (Unity of interest) भी लक्षित होता है। किन्तु ‘स्वदेश-संगीत’ में ये पाठ नहीं हैं।

अस्तु, अब प्रश्न यह है कि इस संग्रह में काव्य की धारा किस रूप में प्रवाहित हो रही है। वस्तुतः तो 'स्वदेश-संगीत' में भी कवि को वही भावना अन्तर्धारा के रूप में परिलक्षित होती है जो 'भारत-भारती' में, क्योंकि यहाँ भी हमारे बीते हुए गौरव को याद करके अपनी वर्तमान अधोगति पर दैन्य-प्रकाशन किया गया है।

मुनके हसकी सत्र पूर्व कथा
उठती उर में अब घोर व्यथा !

गौरवशाली अतीत की 'बे वारें' केवल 'चित्र-फलक पर झलक झलक कर' दिखाई देती हैं और अतीत स्मृतियों के गहरे गर्च में धिलीन हो जाती हैं। वर्तमान और अतीत की इस विचित्र छल्लन में पड़ा कवि कभी कभी उद्भ्रान्त-सा हो जाता है। ट्विफोर्टिफ उद्भ्रान्ति की इस मनोवैज्ञानिक दशा का परिचय देने वाली एक सुन्दर कविता है 'अनिश्चय' शीर्षक जिसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

विश्व, तुम्हारा भारत हूँ मैं ?
हूँ या था, चिन्तारत हूँ मैं !

.....

अभी हिमालय तो सुस्थिर है

वह मेरा ही ऊँचा सिर है
किपर तपोवन पुण्यागिर है

कैसे कहूँ कि भारत हूँ मैं ?

हूँ या था, चिन्तास्त हूँ मैं !

‘भारत-भारती’ से ‘स्वदेश-संगीत’ में एक अन्तर यह है कि इसमें गुमती की धार्मिक भावना बड़ी प्रबल हो उठी है। यों तो उनके प्रायः सभी काव्य भगवान रामचंद्र की विनय से आरंभ हुए हैं, फिर भी ‘स्वदेश-संगीत’ के पन्ने पर पन्ने छलटते जाइये और आपको गुमती घुटने टेके हुए मिलेंगे। ‘मिषेदन’ वह ‘विनय’, फिर ‘प्रार्थना’ ! सर्वत्र भगवान से भैक्ष्य ! चौथी और पाँचवीं कविताओं—‘उषा’ और ‘आरोग्य याचना’ में भी भगवान की आराधना की गई है—

गंभी दया करो हे देव ! भारत में फिर उषा आवे !

अथवा

हरि, हरि हे !

हे मेरे धन्वन्तरि हे !

तेरे हावों में है अश्रु स्रस-सुखा से भरा घड़ा

और देश यह मेरे घड़ा !

इत्यादि

१ स्वदेश-संगीत पृ० ५० ।

२ „ पृ० ५१ ।

भगवान के प्रति संबोधित आत्ममर्त्सनाभरित इन पंक्तियों में कवि का हृदय रो चठता है; क्योंकि उसको आस्तिकभावना इतनी प्रबल है कि उसे समझ में नहीं आता कि भगवान अपने प्यारे भारतदेश को इस तरह तिरस्कृत क्यों किये हुए हैं। साथ ही साथ उसे यह भी विश्वास है कि मँझघार में ढगमगार्ती हुई इस नैया के लिये भगवान के सिवाय दूसरा कर्णधार नहीं मिल सकता। अतः उसके सामने हाथ जोड़ कर वह विनय करता है—

हा हरे ! हा दीनन्धो ! हा विभो ! विश्वेश !

कौन हर सकता हमारा तुम बिना यह क्लेश !!'

ऊपर की पंक्ति में 'हे' के बदले 'हा' का प्रयोग अभिप्राय-विशिष्ट है, क्योंकि 'हा' में हृदय की वेदना की भी ध्वनि है।

'भारत-भारती' के समान 'स्वदेश-संगीत' में एक तृतीय पक्ष भी है—भविष्य की भावना और उसके सृजन के निमित्त उद्बोधन। बीच बीच में कवि बोळ चठता है—'क्यों तुम यों हवाश होते हो !' और हमें 'नवीन' और 'प्राचीन' के समन्वय के द्वारा एक अरुणिम क्षितिज की सृष्टि करने को प्रोत्साहित करता है; और जिस तरह वर्त्तमान की मर्त्सना के लिए अतीत गौरव के पृष्ठाधार की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार भविष्य के क्षेत्र में छल्लोंगमारने के लिये भी अतीत

की रेखा पर अड़ कर अपनी बिखरी शक्तियों का केन्द्रीकरण और आवाहन आवश्यक हो जाता है। इस उद्देश्य से कवि जहाँ-तहाँ हमें अपनी 'महत्ता' की सुधि दिलाते चलाता है—

खुदते हुए सँटहरों में से गुँज रही यह बाणी—
भारत-जननी स्वयं सिद्ध है सब देशों की रानी¹ !

'भारत-भारती' के समान प्रस्तुत रचना में भी कहीं-कहीं कदण वर्णनों को व्यंग्य का रूप देकर उन्हें मोहक बनाया गया है। यथा—'पृथ्वी-विवाह' शीर्षक कविता में—

आज उदार बना है सूर।
बूढ़े भारत के घर देखो मची ज्वाह की धूम।

स्वर्ग-सौख्य भोगो वर-बाधा ! शय्या पर मुँह चूम।
आज उदार बना है सूर।²

इन पंक्तियों को पढ़ते समय यह नहीं समझना चाहिये कि इनमें निरा हास्य रस ही है; बल्कि इनमें छिपी विपाद की एक गहरी रेखा भी है। जिस प्रकार कभी कभी हम यह देखते हैं कि मुसीबतों के कठिन आघात पाकर कोई व्यक्ति पहले तो बहुत

१ स्वदेशसंगीत पृ० ६९।

२ " पृ० ४९।

रोता है, फिर रोते ही रोते हठात् बह हँस पड़ता है—न जाने क्यों ! ठीक उसी प्रकार कवि को उपर्युक्त पंक्तियों में मानों हास्य और रुदन के छोर एक ही क्षितिज में मिल गए हैं । सब पूछा जाय तो हास्य और रुदन में नितान्त वैपरीत्य का भान करना एक मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति है, क्योंकि विपाद में भी हास्य और आनंद में भी रुदन संभव है ।

‘स्वदेश-संगीत’ की आलोचना पर पदों गिराने के पहले एक विषयान्तर अनिवार्य दोखता है । इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र लिखा है कि “गुप्त जी को कभी कभी ‘राष्ट्रीय कवि’ भी कहा गया है, किन्तु ऐसा कहना, हमारी समझ में, एक भ्रम है । अधिक से अधिक हम उन्हें ‘जातीय कवि’ कह सकते हैं ।” अब विचारना यह है कि क्या ‘स्वदेश-संगीत’ में आई हुई ‘सत्याग्रह’, ‘गांधी-गीत’, ‘स्वराज्य की अभिलाषा’, ‘ओ बारडोली’ ! आदि कविताओं के आधार पर हम उन्हें ‘राष्ट्रीय कवि’ की उपाधि दे सकते हैं कि नहीं । हमारा विचार है कि—नहीं । क्योंकि सर्वप्रथम तो यह बात है कि दो चार फुटकर पद्यों से किसी कवि की किसी व्यापक प्रवृत्ति या कविता-धारा का निर्णय नहीं किया जा सकता । ‘अस्थिर किया टोपवालों को गांधीटोपीवालों ने’ अथवा ‘सत्याग्रह है कवच हमारा’—जैसी पंक्तियाँ गुप्तजी के हृदय की नैसर्गिक संपत्ति नहीं है; वे तो जमाने की कदमबोसी के रयाल से लिखी गई हैं । यदि ‘भारत-भारती’ के पृष्ठों में—

देते हुए भी कर्मफल हम पर हुई उसकी दया
मेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया ।

—जैसी लाइनें कवि को सुसंगत जँचीं, वो उनसे 'स्वदेश-
संगीत' की—

सूरत में ही कोठी पहले
नीकरशाही ने खोली
सूरत से ही चली हटाने
अब तू उसे बारडोली ।^१

—सरीखी पंक्तियों की संगति नहीं मिलती । इस बात क
भी कोई प्रमाण नहीं है कि कवि के जीवन में देश-प्रेम की भावना
एक मनोवैज्ञानिक क्रान्ति का परिणाम है । हाँ, एक बहती हुई
लहर अवश्य है जो कवि की हृत्तंत्री के तारों से टकरा कर समय
समय पर गूँज उठती है । आप 'अछूत' शीर्षक कविता पढ़ें । उसमें
कवि यह लिखता है—

हम अछूत अब तक हिन्दू है
अचरज है अब तक हिन्दू है ।
मुमलमान ईसाई है तो
देखें फिर कब तक हिन्दू है !

१ भारतभारती पृ० ८० ।

२ स्वदेशसंगीत पृ० १२६ ।

३. " " २८-२८८ ।

इसमें धर्म-प्रेम के दामन में देश-प्रेम छिप-सा गया है । असल में, देश-प्रेम की नवीन भावना के साथ तादात्म्य अनुभव करने के लिये जिस तपस्या और साधना, जिस संस्कार और वासना की आवश्यकता है उसका अभाव रहा है गुप्तजी में । अतः उनके गानों में अन्याहत रूप से राष्ट्रीय भावना की खोज करना व्यर्थ है । राष्ट्रीयता का वर्तमान पुजारी आस्तिक हो सकता है, लेकिन धर्म के नाम पर बल्ल-जुल्लु बावें नहीं मान सकता । गुप्तजी भले ही मान लें कि हमारे पूर्वकालीन ब्राह्मणों में अलौकिक शक्तियाँ होती थीं—

रच सकते थे जो सृष्टि दूसरी निज बल से ।

कर सकते थे भव-भस्म अञ्जली के जल से^१ ॥

किन्तु धर्म के गोलों की वर्षादियों का नजारा देखने वाला विज्ञान युग में पला भाज का राष्ट्रप्रेमी नवयुवक 'अञ्जलि के जल' की इन दाहक शक्तियों का कायल नहीं होगा । निष्कर्ष यह कि गुप्तजी में धार्मिक भावना का पुट उचित से कुछ अधिक है और जब तक यह घात रहेगी तब तक क्रान्तिमूलक और क्रियात्मक राष्ट्रीयता का संदेश देने से वे असमर्थ रहेंगे ।

‘मंगल-घट’ में गुप्तजी की लगभग साठ ऐसी कविताओं का संग्रह है जिनमें कुछ के रचना-कालों में तो पचीस वर्षों तक का अन्तर है। रचना-कालों की क्रमिकता अथवा विषयों की सदृशता—किसी प्रकार की व्यवस्था का ध्यान प्रस्तुत संग्रह में नहीं रखा गया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जिनको अलग पुस्तकाकार रूप दे दिया जा चुका है; यथा—‘विफट मट’ जो स्वतंत्र ग्रन्थ भी है अथवा ‘महाराज दृष्योराज का पत्र’ जिसका समावेश ‘पञ्चावली’ में किया गया है। फलतः इस मधुकर-वृत्ति में किसी प्रवृत्ति-विशेष का अभाव स्वभाविक ही है। तथापि प्रस्तुत पंक्तियों में कुछ ऐसी ही कविताओं की आलोचना की जायगी जिनमें कारुण्य की धारा किसी-न किसी अंश में प्रवाहित हो रही हो।

‘निषेदन’ के पश्चात् जो ‘मंगल-घट’ शीर्षक कविता है—
और प्रत्यक्षतः जिसके आधार पर इस संग्रह की यह संज्ञा भी दी

गई है—वह कविहृदय की त्याग-लिप्सा एवं दुःख-सहिष्णुता की आकांक्षा का प्रस्फुरण करती है। कवि का 'मंगल-घट' तब तक तैयार नहीं हो सकता, जब तक कवि बलि जाने एवं संताप की भट्टी में अपने आप को तपाने की चेष्टा न करे—

फिर भी तुझको तपना होगा ।

फलों से न कल्पना होगा ।

यों 'मंगल-घट' अपना होगा ॥

'याज्ञा' शीर्षक कविता में कवि हाथ जोड़े खड़ा हो जाता है और मानस-मंदिरासीन भगवान की ओर सृष्ण नेत्रों से देखता हुआ करुण वाणी का उच्चारण करता है—

भित्तारी खड़े हैं, जरा ध्यान दो ।

न दो ओर तो दृष्टि का दान दो ॥

प्रायः जब कभी गुप्तजी ने आत्मरक्षार्थ भगवान का आश्रय किया है तब साथ ही साथ अपनी दीनता का भी अभिव्यंजन किया ही है। और उचित भी है, क्योंकि दुर्बल को दो परमुखापेक्षा की अपेक्षा होती है, सबल को नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब कभी कवि को 'दुर्बल' तथा 'आरत' भारत का वर्णन करना पड़ता है तो हृदय से एक क्षिप्त-सी चठती है

और इसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि उसे तत्क्षण अपने गौर-
घान्धित अतीत की स्मृति आ घेरती है और वह अपने वर्तमान
के कालिदासय चित्र के चित्रण के लिये अतीत का सुनहला
पृष्ठाधार सजाना आरंभ कर देता है। 'स्वर्ग सहोदर' शीर्षक
कविता में वेदना की अनुमूति के साथ कवि कराह बठता है—

मुनके इसकी सब पूर्वकथा
उठती उर में अब घोर व्यथा ।
हममें इतना घृत क्षीर रहा
जितना न कहीं पर नीर रहा^१ ॥

अन्यत्र ('विशाल भारत' शीर्षक पदों में) वह भारत की
पराधीनता पर व्याल दर के पहले दो बहुत विकल होता है ।
किन्तु फिर यह सोच कर सान्त्वना ग्रहण करता है कि—

शीतल पाकर ही चंदन पर ।
लिपटे है यह व्याल^२ ॥

यह सान्त्वना कुचली हुई तमझा, दूटी हुई आशा का मानों
आँसू पोछता है; किन्तु कवि करे तो क्या ? दूसरा चारा भी तो
नहीं है । इसकी आँखों के सामने परस्परविरोधी 'दो दृश्य'
उपस्थित हैं, अतः वह स्थल स्थल पर किर्तुर्चव्यविमूढ़-सा हो
जाता है, मानों विपरीत भावनाएँ आकर टकर लेती हैं और

दोनों की गति क्षण भर स्तब्ध-सी हो जाती है। कवि दोनों नजारों को देखता ही रह जाता है—

आओ तब दोनों आँखों से
देखें हम, भी दोनों ओर
एक आँख से अपनी उन्नति
एक आँख से अवनति पोर' ।

मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से मन की वृत्तियों का इस प्रकार परस्पर संघर्ष के कारण मन्द पड़ जाना और पंगु हो जाना सूक्ष्म कारुणिकता का एक सुंदर दृष्टान्त माना जा सकता है। हमारी वर्तमान परिस्थितियों की विवशता ने कवि की दृष्टि में आँसुओं का महत्त्व बढ़ा दिया है, क्योंकि विषाद और अनुताप के काले बादलों से आच्छन्न हृदयाकाश तब तक हल्का नहीं होता जब तक वे भ्रुसलिल बन कर दुलक नहीं पड़ते। अतः कवि हमें आदेश देता है कि—

नेत्र-गंगा में नहा लो मानवो ।

पाप-तापों को बहा लो मानवो' ॥

आँसू कोई अष्विन्न और घृणित पदार्थ नहीं है, क्योंकि—
स्वर्ग की शुचिता उन्हीं में है यहाँ
अमृत के अनुभूत कण जानो उन्हें' ।

१ संग्रहपट्ट पृ० १४० ।

२ " पृ० २५७ । ('आँसू') ।

३ " पृ० १५७ ।

नवयुग की छायावादी कविता-सरिता में 'आँसू' का जो प्रवाह निरन्तर बहता है उसी की परम्परा में गुप्तजी की ये पंक्तियाँ भी शामिल होंगी, यद्यपि इनमें 'प्रसाद' के 'आँसू'-जैसी सुदृढ परंपरा और गहरी अनुभूति का अभाव है।

'मंगल-घट' के मध्यभाग में कुछ ऐसी कविताएँ हैं जो प्रसंगात्मक हैं, और जिनके कथानक का मुख्य स्रोत या तो महाभारत है या प्रचलित ऐतिहासिक गाथाएँ। प्रथम कोटि की कविताएँ निम्नलिखित हैं:—

भीष्म प्रतिज्ञा ।

द्रौपदी-दुष्कृत ।

वरदान ।

उत्तर और गृहभ्रम ।

केशों की कथा ।

रण-निर्माण ।

द्वितीय कोटि में अघोडलिखित:—

विवट भट (स्वतंत्र पुस्तकाकार भी प्रकाशित है) ।

न्यायादर्श ।

महाराज धृष्टीराज का पत्र ('पत्रावली' में सम्मिलित)

नकली किला ।

दस्ताने ।

महाभारत-मूलक कथानकों में 'द्रौपदी-दुष्कृत' 'वरदान' तथा 'केशों की कथा'—इन तीनों का सीधा सम्बन्ध करुणा से है।

जब द्रौपदी को भी पाण्डव जुए में हार गए, तब भरी सभा में उसे खींच लाया गया और वचन-बद्ध पाण्डव 'मंत्रों से कीलित भुजंगम-सम' स्त्रैण और स्तब्ध, इस अपमान को देखते रह गए। पतिव्रता स्त्री का पतियों की आँखों के सामने वेश-कर्पण किया गया, किन्तु पत्ता तक न दिला। जब दुःशासन ने तुकूल पर हाथ फैलाया, तब भीम से न रहा गया और उसने उस पापी के शोणित से अपनी कृष्णा बुझाने की भीम प्रतिज्ञा की। किन्तु उस विचित्र परिस्थिति में भीम भी भीम का पुतला बना था। अतः एक मात्र हरि का सहारा नजर आया, और उस समय सलज्जा और निर्लज्जा, सवसना और विवसना की क्षीण सीमान्त रेखा पर छड़खड़ाती हुई कृष्णा करुण व्रन्दन कर उठी—

हे अन्तर्यामी मधुसूदन !

कृष्णचंद्र ! करुणासिन्धो !

रम-रमण, भय-हरण, दयामय,

अक्षरण-क्षरण, दीनबन्धो !

मुझ अनाथिनी की अब तक तुम

भूल रहे हो सुधि कैसे ?

नहीं जानते हो क्या केशव !

कष्ट पा रही हूँ जैसे ?

करुणामय कृष्णचंद्र ने करुणा की, और बीच दुःशासन ने आश्चर्यविरकास्त्रि नेत्रों से देखा कि—

द्रौपदी का वह टुकड़ा दुरन्त था !

‘मरदान’ शीर्षक कविता में यह वर्णन किया गया है कि किस प्रकार धृतराष्ट्र को द्रौपदी का यह अपमान सुन कर अपने पुत्रों के प्रति अति खोभ हुआ और अपनी सुपुत्रवधू के प्रति, जो उनके सामने लज्जित सिमटो-सी, निश्चल नीचा बदन किये खड़ी थी, अनुकम्पा के भाव जागरित हुए । ‘केशों की कथा’ में द्रौपदी हमें थोटा-साई-हुई-भागिन-सी दीख पड़ती है । नारी-हृदय स्वभावतः बहुत कोमल होता है किन्तु अपमानित होने पर उसी हृदय में प्रति-हिंसा की प्रचंड आला धक्कने लगती है । अतः अज्ञान-वास के अवसान पर जब धर्मराज मुभिष्टिर ने फिर भी कौरवों के संमुख संधि का प्रस्ताव रखने की मंत्रणा दी, तब द्रौपदी से न रहा गया । उसने स्त्रीमुद्रम शास्त्रीनता का परित्याग कर ‘धृष्टता’ की शरण ली; संधि का सुलभसुल्ला विरोध किया । फिर अन्त में अपने भुजंगिनी-सरीसरे केशों को फड़कारते हुए उसने ‘करुणामयी’ वाणी में श्रीकृष्ण से प्रार्थना की—

करुणा-सदन, तুম कौरवों से संधि जब करने लगे
चिन्ता व्यथा सब पाण्डवों की शान्त कर हरने लगे
है तात । तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा
है प्रार्थना, मत मूल जाना, यदि रसना रचिथा ॥

इतना कहना था कि दृग्द्वार से अद्भुतवार चमक पड़ी और
रीकृष्ण सान्त्वना की बाँध बाँध कर उसके प्रवाह को रोकने लगे।
रीरता-भरी करुणा, प्रति-हिंसा-परक अपमान का जो मनोवैज्ञा-
निक निदर्शन द्रौपदी के चरित्र में चित्रित किया गया है, वह
गुमजी के हृदय की प्रिय भाषना है। इसे हम सामूहिक रूप से
'चदात्त-कारण्य' कहें तो अनुचित न होगा।

प्रचलित ऐतिहासिक गाथाओं में दो—'विकट भट' और 'महा-
राज पृथ्वीराज का पत्र'—की आलोचना यथावसर की गई है।
शेष में मुख्य रस धीर है और उसका प्रस्फुटन प्रस्तुत नियंध के
लिये विषयान्तर है।

‘पत्रावली’ शीर्षक पद्यात्मक पत्रावली में निम्नलिखित पत्र सम्मिलित हैं :—

- (i) महाराज पृथ्वीराज का पत्र महाराणा प्रतापसिंह के प्रति ।
- (ii) महाराणा प्रतापसिंह का प्रत्युत्तर पृथ्वीराज के प्रति ।
- (iii) छत्रपति शिवाजी का पत्र औरंगजेब के प्रति ।
- (iv) औरंगजेब का पत्र पुत्र के नाम ।
- (५) महारानी सीसोदनी का पत्र महाराज बसवन्तसिंह के नाम ।

(vi) महारानी अहल्याबाई का पत्र राघोबा के नाम ।

(vii) राजकुमारी रूपवती का पत्र महारानी राजसिंह के नाम ।

(i) (ii) इनमें प्रथम में बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज ने जब यह जाना कि महाराणा प्रताप ने अकबर के साथ संधि का प्रस्ताव भेजा है तब उन्हें पत्र द्वारा अपने प्रण पर अटल रहने को प्रोत्साहित किया । फलतः इसमें मुख्य रस धीर है । किन्तु

वीर रस के आवाहन के लिये कारुण्य का उद्भावन किया गया है। सामान्यतः वीर रस का उद्देक ओजमरे वाक्यों के द्वारा किया जाता है; किन्तु हमारा विचार है कि जहां किसी कारुण्य-पूर्ण परिस्थिति का—चाहे वह वास्तविक हो अथवा काल्पनिक—चित्रण करके, पहले हृदय में उसके द्वारा आर्तना लाकर, फिर उस पर वीर रस को मुद्रित किया जाता है, वहां प्रभाव स्थायी और सुदृढ़ होता है। जिस प्रकार गीली जमीन में पदचिह्न स्पष्ट और अपेक्षाकृत स्थायी रूप में अंकित होता है, उसी प्रकार कारुण्य द्वारा मानों हृदय नाजुक तथा स्पर्शालु (touchy) हो जाता है; और ऐसी दशा में उस पर जो भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उसमें भावों की मात्रा अधिक रहती है। जिस समय प्रताप ने वृष्णीराज की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ी होंगी—

मैं कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर आश्चर्यलीन
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ, सिंधु संस्थाविहीन !
देखा है, क्या कहूँ मैं, निपतिन नभ से इंद्र का आज छत्र
देखा है और भी, हाँ, अकबर-कर मैं आपका गंभीर-पत्र !

पुनश्च—

जाते हैं क्या मुझने अब उस गिर को आप भी हो हताश !
सारी राष्ट्रीयता का जिव ! जिव ! फिर नो हो चुका सर्वनाश !

—तब उनके हृदय की सोई हुई और क्षण भर के लिए मर्दित आत्मसम्मान की भावना पर जबर्दस्त ठेस लगी होगी, संभवतः आँखों से अनजान दो चार कतरे आँसू भी चू पड़े होंगे। इस प्रकार क्षेत्र सिञ्चित हो जाने पर बीररूपी बीज का वपन होना आसान हो गया होगा, और फिर उस उपयुक्त मनो-वैज्ञानिक परिस्थिति में जब पृथ्वीराज की आत्मा ने पत्र द्वारा प्रताप के संमुख खड़ी होकर प्रभु बिया होगा कि—

आज्ञा दीजे मुझे जो उचित समझिये प्रार्थना है प्रकाश—

मूँछें ऊँची करूँ या सिर पर पटकूँ हाथ होके दृताक्ष'—! ।

तब निश्चय ही उसे कुछ इस प्रकार का उत्तर प्रताप के अन्तः-मन में गूँजता हुआ सुन पड़ा होगा—

मूँछें ऊँची रखूँगा; मत फिर जकड़े दैन्य का बन्ध-पाश !!

महाराणा प्रताप के प्रत्युत्तर में आत्म-भौरव की हुसती हुई भावना धधक उठी। अनुताप की अग्नि में जलते हुए उन्होंने रबीकार किया कि—जब दैवदुर्विपाक से बिली घास फूस की वह रोटी भी ले गई जिससे मैं अपनी मृतप्राय पुत्री की प्राण-रक्षा करता वो मेरा साहस छूट गया और निराशा का एक झंझावात आया तथा मेरे आत्म-संमान के छप्पर को पुत्री के प्राण-परोहणों के साथ ही साथ दूर चड़ा ले गया। किंतु अब, अपना पत्र पाने पर, मैं सजग हो गया हूँ और प्रण करता हूँ कि—

सहँगा दुःखों को सतत फिर स्वातंत्र्यमुख से
कहँगा जीते जी प्रकट न कभी दैन्य मुख से !!

(iii) तृतीय पत्र में शिवाजी ने 'जलिया' नामक कर लगाने के संबंध में औरंगजेब को पत्र लिख कर उसके प्रति उसका ध्यान आकृष्ट किया है। हिन्दुओं के प्रति औरंगजेब के शासन में जो अन्याय और अत्याचार किये जा रहे थे उनका एक संकटमय वर्णन करके शिवाजी ने उस मुगल शासक के हृदय में सोई हुई मानवता को चट्कोर करने की चेष्टा की है। यह एक मनोविज्ञान-शास्त्र का नियम-सा माना जा सकता है कि मानव प्रकृति में अन्तर्हित रूप से वर्तमान जो सद्भावनाएँ अथवा सत्प्रवृत्तियाँ होती हैं उनको जागरित करने और सुलगाने का एक बहुत सुंदर साधन है किसी प्रकार के शोक अथवा अनुताप के आघात-प्रतिघात द्वारा हृदय में कारुण्य का सृजन। महात्मा युद्ध के हृदय पर जय रोग, वृद्धावस्था और आकस्मिक मृत्यु ने चोट पर चोट पहुँचाई वो दर्शनी हुई विरक्ति की भावना प्रचलित हो उठी। कलिंग युद्ध के नर-संहार के कारुणिक दृश्य ने महाराज अशोक की रक्तपिपासा को सदा के लिये विरक्त कर दिया और उन्हें अहिंसा और धर्म का उपासक बना दिया। सामान्य जीवन में भी—हमारी व्यक्तिगत दिनचर्या में भी—हम देखते हैं कि जब हमारा कोई प्रेम-यात्र हमें छोड़ कर गोलोक

की राह लेता है, अथवा हमारी आशाओं पर एक मोर की ठेस लगती है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानों कुछ देर के लिये हमारी देवी भावना ('God-in-man') ने हमारी मानवी-दुर्बलता ('Man-in-God') पर विजय प्राप्त कर ली। किन्तु मायावश मनुष्यों के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ कइसे के समान आती हैं और चली जाती हैं। शिखरे ही ऐसे आत्मानुपायी व्यक्ति होते हैं जो इनसे छान चला कर अपने जीवन-मार्ग में एक नया पृष्ठ प्रदर्शित कर सकें। शिवाजी ने चाहा कि—

हिन्दू जो हैं हठविधि, हुए मनुष्यव्यक्त
होने आने यवन उन भी चित्त में अप्रसन्न
आगरी हैं विमल लुटने, रो रही है रिपाया ।
कोई भी है घुट न सुनता घोर अंगरे शया^१॥

—आदि दैत्य के वर्णनों द्वारा औरंगजेब के दिल में भी सहासभूति का संक्रमण हो चाय, किन्तु शिवाजी का मनोरथ हम समय बिचल हुआ ।

(१४) शिवाजी का मनोरथ हम समय बिचल हो हुआ, किन्तु औरंगजेब के चित्त में कार्यक्रम से एवं नैसर्गिक रुचि से, पक्ष अथवा पर आत्म-अज्ञान की भावना सजग हुई, प्रिय समय-यम आगे पलट कर उसे देखने लगा । लोगों की धारणा है कि

मरण के समय मनुष्यों की आँखों के सामने उसके पापों का 'पैरेड' होने लगता है, और अन्तिम आँसू अनुताप के ही आँसू हुआ करते हैं। यह धारणा सत्य है अथवा नहीं, इसका चाहे प्रायोगिक प्रमाण न मिले, किन्तु अनुमानवः इसे मानने को बाध्य होता पड़ेगा। हम ऊपर कह आए हैं कि काठिनिक परिस्थितियों सत्प्रस्थियों को जगाती हैं, अतः जिस समय मृत्यु हमारे सारे अर्मानों और अतीत जीवन के नाटक के अन्तिम दृश्य पर अन्तिम पटाक्षेप करने जा रही हो, उस समय यदि अपनी कालो करतूतों को याद कर के हमारी आत्मा रो सके, और 'अंजन गुन अँटके' 'संजन नैन' दो दो मोती बरसा कर 'वाटंक' फाँद जायँ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। •

औरंगजेब के साथ भी, गुमजी का कहना है, ऐसा ही हुआ। अपने पुत्रों को संघोषन करते हुए यह लिखता है—

रह रह उठती है चूक की आज हूक
यह कठिन कलेजा हो रहा हूक हूक
समय गत हुआ है शेष है क्या उपाय
गर निगल चुका है हाथ से हाथ ! हाय !

इनके बाद की पंक्तियों में उत्तरार्द्ध भाग के अनुप्रासविशिष्ट होने से काठिन्य के घनीभूत होने की ध्वनि होती है—

अव-घट अपने में फोड़ के जा रहा हूँ
नय-नियम यहाँ के तोड़ के जा रहा हूँ
इस तनु तक को भी छोड़ के जा रहा हूँ,
बस अपयश को ही जोड़ के जा रहा हूँ ।

पाठक अपने मानस-परद्वार में वह दृश्य उपस्थित कर सकते हैं जब मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ मुगल-सम्राट् मन्द मन्द स्वरों में 'जा रहा हूँ' की धार २ आशुति करता हुआ उस शानोशीकृत से बिदा ले रहा है जिसे ऊँचा रखने के लिये उसने रतून की मदियाँ बहाई थीं, अपने परिवार के शोणित में ही अपने हाथ रँगें थे । वैभव जितने ही उत्कर्ष पर विराजमान होता है, उसका पतन उतना ही मर्मान्तक होता है । औरंगजेब की उन्मुख पैतियों भी इसी मर्मान्तक वेदना का परिचय देती हैं ।

(८) पंचम पत्र में उस समय का प्रसंग है जब राज्यप्राप्ति के लिये औरंगजेब और दारा में युद्ध छिड़ा था । तब जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह ने दारा का साथ दिया था; किन्तु इसके हार जाने पर महाराज जोधपुर छोड़ गए । सुना जाता है कि महारानी ने अपने पति की कायरता सुन कर किले का फाटक बन्द करा दिया और पत्र द्वारा ग्ञानि प्रगट की । यदि महारानी की मनोवृत्ति का विदलेषण किया जाय तो उसमें दो परस्पर-

विरोधी भावनाएँ च्यल-च्यल मचाती दीर पढ़ेंगी—(१) भीरु पति की पत्नी होने के कारण दैन्य और विषाद, किन्तु (२) ऐसे पति की भर्त्सना करते हुए अपने व्यक्तित्व का गौरव स्थापित करने के कारण वीरता और गर्व। प्रथम भावना का प्रतीक निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं।

रानी कहती है—

मैं मेदिनी ! तू पट, मैं समारु
 कुकीर्ति से जो अब जाण पाऊँ
 न लोक में मैं यदि जन्म पति
 तो भीरु भाया फिर क्यों कहाती^१।

द्वितीय भावना का प्रतिनिधित्व निम्नलिखित पंक्तियाँ  रहीं हैं—

आओ, यहाँ से तुम लौट आओ
 तुम्हें यहाँ स्थान कहाँ कि आओ
 हो शून्य तो भी यह सिंद-पीर
 हे गीदड़ों को इसमें न टेर^२ ॥

यह अंतिम भावना तो वीर रस की भावना कही जायगी, किन्तु प्रथम की काव्य की कान्ठ में भन्तर्निविष्ट किया जायगा,

१ पत्रावली पृ० १२।

२ „ पृ० १४।

क्योंकि महारानी अपने आप पर तरस खा रही हैं और उन्हें अपने व्यक्तित्व से घृणा हो उठी है ।

(१i) (१ii) महारानी अद्वयाबाई का राघोबा के नाम अथवा रूपवती का महाराना राजसिंह के नाम जो पत्र है उसका संबंध या तो केवल घोर से या मिश्रित घोर-शृंगार से है । किसी ऐसी कदनाजनक परिस्थिति का चित्रण नहीं किया गया है जिसकी आलोचना प्रस्तुत पंक्तियों का विषय बन सके ।

‘हिन्दू’ स्फुट कान्यों का एक ऐसा संग्रह है जिसमें कवि के उपदेशक ने कवि के कलाकार को पूर्ण रूप से विरोधित कर लिया है। गुप्तजी को इस प्रकार सम रूप से ‘कला में उपयोगिता-वाद’ का अनुसरण करने में कोई शिक्षक नहीं है। इस मनोवृत्ति का परिचय उन्होंने स्पष्ट रूप में आलोच्य पुस्तक की ‘भूमिका’ में दिया है।

इस प्रसंग में प्रश्न यह है कि—‘हिन्दू’ में कारुण्यधारा का प्रवाह कैसा और किस रूप में है ? उत्तर यह होगा कि ‘भारत-भारती’ आदि में जो तीन प्रमुख भावनाएँ देखने में आई हैं वे ही इस संग्रह में भी हैं। अन्तर यह है कि ‘भारत-भारती’ की प्रतिपादन-शीली में कवि का ‘हिन्दुत्व’ उतना प्रखुट नहीं हो पाया है जितना कि ‘हिन्दू’ में। और ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि इसी भावना से प्रेरित होकर यह संग्रह किया गया और नाम भी ऐसा दिया गया जिससे यह भावना संकेतित हो

जाय। कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जिन पर महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन और अहिंसात्मक सिद्धान्त का प्रतिफलन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, किन्तु प्रथम तो ऐसी कविताएँ बहुत कम संख्या में हैं; दूसरे, जो हैं भी उनमें कम राष्ट्रीयता के भाव निहित हैं अथवा नहीं इसमें संदेह है; क्योंकि हमारा विचार है कि गुप्तजी सामान्यतः जातीयता की भावना के स्तर में ऊपर नहीं उठ सके हैं।

ऊपर की पंक्तियों में जिन तीन भावनाओं का उल्लेख किया गया है, वे हैं—

- (i) अतीत का गौरवान्वित अभ्याहरण ।
- (ii) वर्तमान का दुःखद संस्मरण ।
- (iii) भविष्य का स्वर्णिम संस्करण ।

और ये तीनों 'हिन्दू' में वर्तमान हैं। प्रस्तुत संग्रह का आरंभ 'विस्मृति' और 'अभाव' शीर्षक कविताओं से हुआ है, जिनमें यह बताया गया है कि हमारी महत्ता का परिचायक अतीत अतीत हो चुका—

वह साधन, वह अव्यवसाय
नहीं रहा हममें अब हाय !
इसी लिये अपना यह हास—
चारों ओर त्रास ही त्रास ।

गुप्तजी का विचार है कि हम आवश्यकता से अधिक सकरुण रहे हैं; और हमारे वैरियों ने, आक्रमणकारियों ने, हमारी इस 'अतिरिक्त करुणा' से नाजायज फायदा उठाया है। फलतः हमारा पिछली अन्तुकम्पा ही, हमारी पूर्वज करुणा ही, आज करुणा का विषय बन गई है; वह हमारी दुर्बलता का प्रतीक मानी जा रही है। किन्तु इस दुर्बलता में भी कवि हमें निराशावादी नहीं होने देगा। माना कि आज हम दीन, होन और विच्छिन्न हैं; हममें बल नहीं है और न है बुद्धि। फिर भी गुप्तजी की धारणा है कि यदि हम करोड़ो-करोड़ मिलकर एक साथ असंतोष की आहें भी भरें, तो उन आहों की आग में हमारे विपक्षी जल जायेंगे—

किन्तु करें मिल करं यदि आह

तो भी कौन सहे यह दाह ?

अतः निराश होने का अवकाश नहीं है; विश्वास रहे कि हमारे भाग्याकाश में फिर भी प्रभाकर के प्रकाश का विकास एक न एक दिन होगा ही। पौरस्त्य-क्षितिज में ही तो सूर्य उदित होता है; फिर पौरस्त्य देशों को निराश होने की जरूरत ही क्या ?

विशिष्ट-विषयक पथों में 'विघवा' करुणा की दृष्टि से सविशेष उल्लेखनीय है। 'पवित्रता की सकरुण मूर्ति' हिन्दू विघवा पर कौन नहीं सरस लायगा ? सो भी ऐसी दशा में कि इसी परिवार के अन्य पुं-सदस्य 'व्याहों पर व्याह' करते

जाते हैं—असमय में भी—अति-समय में भी; और वही घर में, खिले-हुए-फूल-के-समान पोटशी वैद्यक्य का बैज पहने अधूरे अर्मानों के सूफानों के झोंके पर झोंके सहती है, किन्तु सदाचार के वृत्त से रत्ती भर भी व्युत् नहीं होती। 'अछूतों' की दशा पर भी गुप्तजी का हृदय पिघल बैठता है और वे इस 'दारुण दृश्य' की ओर हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित करते हैं। आज जो हजारों, लाखों की संख्या में अछूत विधर्मी होते चले जा रहे हैं, उसका मुख्य कारण है हिन्दुओं की सामाजिक रुढ़ि, जिसके बन्धीभूत हो अछूतों को नर-पशु समझा जा रहा है। गुप्तजी ने हिन्दू समाज की इन सारी कुरीतियों के विरुद्ध स्पष्ट शब्दों में जिहाद खड़ा किया है, किन्तु ऐसा करने के पहले उस समाज की हृत्तंत्री के कोमल से कोमल तारों को टूट कर प्रत्यन्त कर दिया है ताकि उनसे निकली हुई तान भारत के कोने कोने में गूँज जाय।

‘वैतालिक’ गुप्तजी की एक छोटी-सी प्रयन्धात्मक रचना है, किन्तु व्यक्तिविशिष्ट से संबन्ध न रखने तथा इतिवृत्तात्मक न होने के कारण उसकी शुमार प्लेट कान्ग्रों में ही की गई है। ‘वि + ताल’ (विविध ताल) शब्द से ‘वैतालिक’ की उत्पत्ति हुई है और इसका अर्थ हुआ “विविध ताल दे कर गाने वाला”। भारतीय साहित्य में राजकुमारों अथवा अन्य सम्पन्न नायकों की मीठी मीठी नौद से उन्हें प्रातःकाल जगाने के लिए गायकों के नियुक्त होने का उल्लेख प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। उदाहरणतः महाकवि कालिदास ने ‘रघुवंश’ के पञ्चम सर्ग के अन्त में राजकुमार अज के वैतालिकों द्वारा उद्बोधन प्रकार का वर्णन किया है।

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं
शय्योत्तरच्छदविमर्दकृदांगरागम् ।

वैतालिकाः सत्रयसः प्रथितप्रवेद्यं
 प्राबोधयन्नुपमि वाग्मिस्तारवाचः ॥
 रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च जय्यां
 धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगजो विभक्ता ।
 तामेकतस्तव विमर्शि गुरुर्वितिद्र—
 स्तस्या मवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥

—आदि ॥

इसी सिलसिले में विभाव-यायु, भवर-मूपित पक्षों, पल्लव-
 पतित हिमाम्म आदि प्रकृति के दृश्यों का भी संक्षिप्त चित्रण
 हुआ है ।

१-२-रघुर्वंश-सर्ग ५ श्लोक ६५, ६६ ।

किये रगड़ कणैमूपणों से विदीर्ण से पीन भंस त्रिप्तके
 तथा पल्लव के परिच्छेदों से बिगड़ गए चन्दनादि पित्त के ।
 सुबोध उसका प्रबोध करने लगे उसी की युवा वमर के
 प्रगल्भ बंदी-कुमार होते प्रभाव भारी यथान कर के ॥
 “मनस्वि-मूषण ! विमुक्त शरणा करो, इतिश्री हुई निशा की
 विधान-वर से विमक्त दो मध्य दी हुई है धुरी रसा की ।
 अभी दृग्गते पिता बटाने लगे उसे एक ओर बट कर
 कुमार ! हम भी सँभाड़ने भार को लगे अन्य ओर लुटकर” ॥

(॥ यमस्याद चारुतु इत हिन्दी-मयलुषार से बड़पू ।)

गुप्तजी के 'वैतालिक' ने किसी राजकुमार का उद्बोधन नहीं करके सारे भारतीयों का उद्बोधन अपना लक्ष्य बनाया है; और यही व्यापकता इस काव्य की विशेषता है। कालिदास ही के समान गुप्तजी ने भी किन्हीं किन्हीं पक्षों में मानव तथा मानव-सार प्रकृति में विस्मयप्रतिविम्बभाव का आधान किया है।

यथा—

स्वर्णालोक-पूर्ण नभ है

जो सूना था सुपम है।

रहो तुम्हां क्यों रिक हृदय

करो शुभाशा-सिक हृदय।

यदि प्राच्य क्षितिज के गगन में लालिमा छाई है, अंधकार पर प्रकाश विजयी हुआ है, तो हमारे भी हृदयाकाश में शुभाशा की शक्तिमत्त ज्योति क्यों नहीं उदित होगी^१ !

सम्पूर्ण 'वैतालिक' की कथावस्तु तीन मुख्य विभागों में बाँटी जा सकती है:—

i. १-१६ पद्य तक—उद्बोधनाह्वान।

१ तुलना कीजिये:—

पाषाणप्रापनिधिराक्रमते न भावुरह्णाय तादृशेन तमो निरस्तम् ।

भावोपनामप्रसूतं त्वपि वीरयाते किंवा रिपुन्मव गुरुः स्वयमुचिष्ठवत्ति ।।

रघुवंश । सर्ग ५७१ ।

१ वैतालिक पृ० ५ ।

ii. १७-५८ पद्य तक—ज्या और उसकी करण चिरणों का वर्णन ।

iii. ७९-१२५ ॥ ११—पश्चिमीय (यूरोप आदि) देशों की भौतिक चन्नति की ओर संकेत करते हुए उनके सङ्गुणों के अनुकरणार्थ भारतीयों को प्रोत्साहन तथा उनकी श्रुतियों का चल्हेर और भारतीय महत्ता का उद्गावन ।

‘भारतेन्दु’ के समान शुलजी भी सामाजिक क्षेत्र में सम-
न्वयवाद के पक्षपाती हैं; वे पूर्वापि और पश्चिमीय दोनों सभ्यताओं
के आधार पर, दोनों के सङ्गुणों के संकलन और संमिलन द्वारा,
एक नवीन सभ्यता का पदम भारत में देखना चाहते हैं ।

१ कल्पना की दृष्टि से यह वर्णन बहुत ही सुंदर उतरा है । विशेषतः
पद्य ४३-५८ की उल्लेखाएँ तो पढ़ने ही योग्य हैं और उन्हें पढ़ने
के लिये यदि वे स्वयं हमें आमंत्रित किया है—

हैं जो इह अपेक्षाएँ
उन सदकी कल्लेक्षाएँ ।

ये स्वरलिपियाँ बड़े पदों
गामो जीवनवीन बढ़ो ॥

कारण्य की दृष्टि से 'वैतालिक' को कोई विशिष्ट गौरव नहीं दिया जा सकता है। हाँ, यह अवश्य कहा जायगा कि यदि कवि को हम वैतालिक की भूमिका में अपने मानस-पटल पर चित्रित करना चाहें तो देखेंगे—रात और दिन की सीमान्तरेखा पर खड़ी हुई लजीली स्या ! कुछ करुण-करुण, कुछ मधुर-मधुर भैरव राग की तान भरती हुई तंत्री कवि के हाथों में; सिर कुछ मुका हुआ, आँखों की पलकें अर्ध-निमीलित; चेहरे पर आन्तरिक वेदनों का घूमिल प्रतिफलन; कुछ मंद मंद पड़ती हुई मृदंग की धापें मानों अन्तर्निमीलित तथा अस्पष्ट हृत्पदनों की प्रतिमूर्ति हों; न मुख पर मुसकान, न भौंहों में हँसी ! भारत की विनष्ट विभूतियों का मानों स-मांस-शोणित मानदंड !

निराशा के इसी अन्तर्हित शृष्ठाधार पर आशा और जागरण के संदेश की विगुल फूँकी गई है 'वैतालिक' में—

बने कूप-मण्डूक निरे
रहो घरों में ही न पिरें^१ ।

पित्र अपने को याद करो
उठो अलौकिक भाव भरो^२ ।

१ वैतालिक पृ० ३ ।

२ " पृ० ४ ।

[१५४]

बह सोने की नृति उपा

नव स्फुटि की पृति उपा ।

जगा रही है, जगो, जगो,

कर्त्तव्यों में लगो, लगो^१ ।

‘झंकार’

और

गुप्तजी की छायावादिता

‘शंकार’—भिन्न भिन्न समयों में रचे गए पद्यों का संग्रह—
गुप्तजी की रचनाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है; अतः
स्फुट कान्धों की सामान्य कोटि से अलग इसकी आलोचना को
जायगी। ‘शंकार’ का महत्त्व है दो दृष्टियों से:—

(१) प्रथम कि, इसकी सभी कविताएँ अध्यात्मपरक हैं—
लगभग सभी का संबन्ध परमात्मभावना से है। अतः यह गुप्त-
जी की आध्यात्मिक भावना का प्रतिबिम्ब-सा है।

(२) द्वितीय कि, शंकार ही कवि की एक मात्र ऐसी स्फुट
रचना है जो रहस्यवादी या छायावादी स्फुट कवियों के प्रभाव
से विशेष रूप से प्रभावित हुई है।

इनमें प्रथम की विवेचना इस स्थल पर विषयान्तर होगी।
परन्तु छायावाद की जो जो प्रवृत्तियाँ शंकार में परिलक्षित होती
हैं, वे मुख्यतः ये हैं:—

(क) भाषा की रहस्यमयता।

(र) माधुर्य-भाव-भरित भगवद्भक्ति ।

(ग) माधुर्य-भाव में भी विप्रलम्भपक्ष की प्रियता और प्रबलता ।

(घ) छन्दों की निर्यन्धता ।

इन चारों का संक्षेप में उल्लेख किया जायगा किन्तु इतना आरम्भ में ही कह देना उचित होगा कि इन सभी प्रवृत्तियों के मूल में मानवीय हृदय की दुर्बलता का इतिहास छिपा हुआ है । छायावाद भारत की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक विपमताओं और विकलताओं के प्रति भावुक, तरुण हृदय की प्रतिक्रिया है । अतः किसी न किसी रूप में, ऋजु या अऋजु तौर से, ये प्रवृत्तियाँ कहनाई हृदय की अभिव्यञ्जना के लिये सरणियों-सी समझी जानी चाहियें । फलतः, कवि के काव्य की कारुण्यधारा की आलोचना करते हुए, गौण रूप से, सामान्य मानसिक पृष्ठभूमि के हृदयंगमन के वशेय से, हमारे लिये इनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी अपेक्ष्य हो जाता है । '

(क) यदि हम 'शंकार' के मुर-शृंगों का अवलोकन करें तो उन में से एक पर ये तीन पंक्तियाँ अंकित दीरेंगी:—

स्वर न ताल केवल

शंकार

किमी शून्य में करे विहार'

ये पंक्तियाँ मानों इस संपद की शैली के प्रतीक हैं। इन्हें पढ़ते ही मस्तिष्क में कुछ रहस्यमयता की छाप पड़ जाती है। न स्वर, न ताल फिर भी हंकार ! और शून्य में उसका विहार ! वसी प्रकार अन्यत्र—

हार मानने ही मैं तब तो
होगी मेरी जीत यहाँ।
औंसमिचौनी में तुम प्यारे
पलक मारते छिपे कहाँ ?

हारते हुए भी जीतना सामान्य तर्क-संगति के लिये आश्चर्य-जनक प्रतीत होगा ही। वसी प्रकार सोने के लिये जागने^१ अथवा विस्मृति के लिये स्मृति^२ का दल्लेख भी मस्तिष्क में अनायास ही कुछ कुतूहल पैदा कर देगा। असल में ऐसी व्याघातात्मक अथवा विरोधाभासात्मक कल्पनाओं की वह में आध्यात्मजगत के तत्त्वों अथवा परमात्मसत्ता की अनिर्यचनीयता ही निहित समझी जानी चाहिये। 'हरिऔध' ने इस अभिव्यञ्जना-प्रणाली की व्याख्या करते हुए लिखा है—

“छायावाद का अनेक अर्थ अपने विचारानुसार लोगों ने किया है। परन्तु मेरा विचार यह है कि जिस तत्त्व का स्पष्टीकरण

१ शंकर पृ० १३६ (छोत्र)।

२ जो जाने के लिये जगत का यह प्रकाश है जाग रहा। पृ० १०४।

३ मुझे आत्मनिस्सृत करने की तेरी स्मृति है तात। दुर्गा। पृ० १०३।

असंभव है उसकी व्याप्त छाया ग्रहण करके उसके विषय में कुछ सोचना, कहना या संकेत करना असंभव नहीं। परमात्मा अचिन्तनीय हो, अव्यक्त हो, मन-वचन-अगोचर हो, परन्तु उसकी सत्ता कुछ न कुछ अवश्य है। उसकी यही सत्ता भंसार के वस्तु-मात्र में प्रतिबिम्बित और विराजमान है।

क्या उसके आधार से उनके विषय में कुछ सोचना विचारना युक्तिसंगत नहीं? यदि युक्तिसंगत है तो इस प्रकार की रचनाओं को यदि छायावाद नाम दिया जावे तो क्या वह बिडम्बना है? वह सत्य है कि वह अनिर्यचनीय तत्त्व अकल्पनीय, एवं मन, बुद्धि, विचार से परे है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उसके विषय में कुछ सोच विचार ही नहीं सकते। आकाश असोम हो, अनन्त हो, सो हो, राग-कुल को इन प्रपंचों से क्या काम? वह तो पर लोडेगा और जी भर वसमें ढेरेगा”^१।

तात्पर्य यह कि मानव ज्ञान अपूर्ण है और इसी अपूर्ण ज्ञान और सीमित भाव-प्रकाशन शक्ति के सहारे वह जन आध्यात्मिक तत्त्वों का समस्यल छूना चाहता है जो भृगुत्पत्त्या के समान सदा उससे कोसों दूर भागते चले जाते हैं। किन्तु अपूर्ण होते हुए भी मानव-निश्वासा अथक है और किसी न किसी रूप में उन तत्त्वों को अजेय पठननों को सुलझाने की विफल अथवा अंशतः सफल

चेष्टा करती ही है। परिणाम होता है लौकिक-रूप-से-विरोधी भावों का परस्पर संमिश्रण और समन्वय।

रहस्यमय कल्पना के सुन्दर उदाहरणों से वेद और उपनिषदें भरी पड़ी हैं। ऋग्वेद का प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त अथवा वह भायवृत्त-सूक्त जिसमें 'न ह्यं या' 'न नह्यं या'—जैसी दुर्लभ कल्पनाएँ मौजूद हैं इन्हीं रहस्यमय व्यञ्जना-प्रणाली का परिचायक है। उसी प्रकार उपनिषदों का यह कहना कि 'पूर्ण में से पूर्ण निकलने पर पूर्ण ही शेष रहता है' हमारी सामान्य बुद्धि से परे मान्य होता है।

१ ऋग्वेद म० १० सू० ९०—

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।
स नृमिं सर्वतो वृत्वाऽऽपतिष्यदग्राजुन्म ।

इत्यादि ।

२ ऋग्वेद म० १० सू० १२९—

नासदासीञ्चो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ।
किमावरीयः कुदकस्य शर्मसम्मः किमासीद् ग्रहनं गभीरम् ॥

आदि ।

३ पूर्णमेतद् पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वैराग्ययोगनियतः पञ्चमाध्याय का कारण और

कवच की स्थानों पर भी ।

हिंदी के अपभ्रंशयुग में वज्रयानी सिद्धों ने भी रहस्यमय भाषा का प्रयोग किया था जिसे 'संध्या भाषा' के नाम से पुकारा जाता है। कबीर की छलटवाँसियों^१ भी अस्पष्ट प्रतीकों (Symbol) के रूप में ईश्वर, जीव, माया संबंधी सिद्धान्तों के व्यक्तीकरण-मात्र हैं।

भाषा की हमारी कविताओं ने रहस्यमय चर्चा का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत कर दिया है। वे केवल परमात्मसत्ता अथवा अध्यात्मतत्त्वों में ही सीमित न रह कर अनन्त धाराओं में बह चली हैं। और सचित भी है। क्योंकि हमारा सारा जीवन ही एक पहेली है। हम अपनी किसी भी प्रगति में नियत कार्य-कारण-संबन्ध स्थापित नहीं कर पाते। अतः यदि हम अपनी सारी प्रगतियों में रहस्यमयता का संनिवेश करें तो हानि ही क्या। वर्तमान युग तर्क का जमाना है, जमाना है जिज्ञासा का। किन्तु क्यों क्यों जिज्ञासा की 'बिहग-बालिका' अपने पंख फैलाती है त्यों त्यों उसे अपनी सीमाओं, अपने बँधे पैरों, का खाल भीषण तर रूप धारण करता जाता है, और फलतः वह मधोस कर ॥

१ पैल विषाह गाह भइ बाँझ ।

बहरा दूहे तीनिठ सौँस ॥

अथवा

मूसा बैठा बाँझ में छार सौँपिणि धाइ ।

उलटि मुसे सौँपिणि गिली, यह अचरज है भाइ ॥

इत्यादि ।

जाती है। रहस्यवाद इसी मसोस का शब्दमय अभिव्यंजन है।
पंत की ये पंक्तियाँ—

न जाने नश्वरों से कोन
निमंत्रण देता मुझ को मौन^१ ।

अथवा—राय कृष्णदास के ये शीर्षक—

निर्गुण बीणा ।
अनुराग-विराग ।
स्थायित्व में स्थायित्व ।
निरुद्देश निर्माण की सफलता ।
संताप की शीतलता ।
अभाव में आविर्भाव^२ ।

—सभी परस्पर-विरोधी भावनाओं के सुखद सम्मिलन और रहस्यमय समन्वय के ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'हरिभोध' के शब्दों में—“छायावादी कवियों की नीरवता में राग है, उनके अन्धकार में अलौकिक आलोक, और उनकी निराशा में अद्भुत आशा का संचार। वे ससीम में, असीम को देखते हैं, बिन्दु में समुद्र की कल्पना करते हैं और आकाश में उड़ने के लिये अपने विचारों को पर लगा देते हैं”^३ ।

१ 'पञ्च' से उद्धृत ।

२ रायकृष्णदास की 'साधना' से उद्धृत ।

३ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—पृ० ५९३

हम स्वीकार करते हैं कि रहस्यवाद या छायावाद के नाम पर अत्याचार भी कम नहीं हुए हैं । और एक प्रष्टवादी समा-लोचक के निम्नलिखित कथन में सत्य का अंश न हो, सो नहीं :—

“परन्तु एक दल ऐसे ढोंगी कवियों का है जो समझते हैं कि उन्हें ही परमात्मा ने उपयुक्त पात्र समझ कर विश्वरहस्य का पिटारा सौंप दिया है । ऐसे छायावादी कवि (mystic poets) अपनी हृत्संश्री झंकुर करते हुए बड़े वेग से किसी विचित्र सत्य की खोज में अनंत की ओर दौड़ते हैं । कुरंग की भाँति कस्तूरी की खोज में वे दिन रात परेशान रहते हैं, फिर भी उन्हें भास नहीं होता कि सत्य उनमें ही है, शब्दाडंबर में नहीं । प्रायः वे ऐसी लीइर्ने लिखते हैं जिनकी व्याख्या कदाचित् वे स्वयं न कर सकें ” । उसी प्रकार बालकृष्णराय ने भी छायावाद को ‘प्रमाद का प्रमाद रूप’ बतलाते हुए निम्नलिखित व्यंग्य कहे हैं.—

रहते यजाते टूटे तारों की निपंची सदा

शून्य में भी नित्य वहाँ होता एक नाद है ।

घटते अनन्त अंतरिक्ष ओर नित्य प्रति

रहता सदैव मूक वाणी का प्रमाद है ।

१ ‘सुधा’ (दिसम्बर, १९३६) में एक कवि की कविता के संबंध

‘प्रष्टवादी’ पद का प्रयोग किया गया था ।

२ नवम्बर १९३१ की ‘माधुरी’ में प्रकाशित श्री भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए० के ‘कव्य और कवि’ शीर्षक लेख से उद्धृत ।

करुण विहाग का मुनाई देता राग सदा
 रहती अतीत स्मृति एक एक याद है ।
 यही है प्रमाद का प्रसाद रूप छायावाद
 प्रतिभा सुकवियों की जहाँ अपवाद है ।^१

माना कि छायावाद के नाम पर प्रमाद की भी कमी नहीं है और उटपटांग लाइनें भी लिखी गई हैं, किन्तु वन्हीं चर्च्छृङ्खलताओं के कारण सारे रहस्यवाद अथवा छायावाद के साहित्य को गैरकानूनी करार देना शायद उनसे भी बड़ी चर्च्छृङ्खलता होगी ।

रहस्यवादी कविता की रहस्यवादिता का प्रतिपादन ब्राड्ले (Bradley) ने बड़े भावपूर्ण शब्दों में किया है:—

सच्ची कविता पूर्ण-विचारित एवं स्पष्ट रूप से परिभाषित भावों का अलंकरण मात्र नहीं; यह तो विकास और निश्चितता की ओर अग्रसर होते हुए एक धूमिल-कल्पना-पुंज के रचनात्मक आवेग की वपज होती है । यदि कवि पूर्व से ही यह जानता कि ठीक ठीक उसके क्या अभिप्राय होंगे तब वह कविता करता ही क्यों ? तब तो पूर्व से ही कविता लिखी-लिखाई-सी होगई, क्योंकि कविता की समाप्ति होने पर ही कवि को भी पता चलेगा कि उसका अभिप्राय यही था । जब उसने रचना आरम्भ की और जब तक उसमें संलग्न था, तब तक उसका भावों पर आधि-

पत्य न था। प्रत्युत भावों का ही उस पर आधिपत्य था।..... और यही कारण है कि ऐसी कविताएँ हमें रचनाएँ प्रतीत होती हैं, न कि निरी योजनाएँ; और इनमें वह जादू-की-सी शक्ति रहती है जो केवल आभरण से नहीं आ सकती। इसी कारण यह भी है कि यदि हम ऐसी कविता के अभिप्राय के लिये आग्रह करें ही, तो अधिक से अधिक यही उत्तर मिल सकता है कि-इसका अभिप्राय यही है।

Pure poetry is not the decoration of a pre-conceived and clearly defined matter : it springs from the creative impulse of a vague imaginative mass pressing for development and definition. If the poet already knew what he meant to say, why should he write the poem ? The poem, in fact, would be already written. For only its completion can reveal, even to him, exactly what he wanted. When he began and while he was at work, he did not possess his meaning; it possessed him..... And this is the reason why such poems strike as a creations not manufactures and have the magical effect which mere decoration can not produce. This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem, we can only be answered: It means itself.

Bradley:—Oxford Lectures on Poetry.

इन आलोचनाओं के हृदयंगम करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि छायावादी कविता-प्रणाली उपादेय है और उस का भविष्य बहुत चञ्चल है^१। अतः यदि गुप्तजी ने भी यत्र तत्र इस प्रणाली को आश्रय दिया तो इससे उनकी प्रगतिशीलता ही प्रगट होती है अगतिशीलता नहीं।

(ख) माधुर्यभाव-भरित भगवद्भक्ति की परम्परा हिन्दी साहित्य में शताब्दियों से चली आती है-अपभ्रंशयुग से ही। विश्लेषण की दृष्टि से माधुर्यमय रहस्यवाद के दो विभाग हो सकते हैं।

(१) दार्शनिक।

(२) काव्यगत।

दार्शनिक रहस्यवाद का आधार है औपनिषदिक सर्वात्मवाद अथवा ब्रह्मवाद जिसमें ब्रह्मानंदास्वादन-सुख को सहवास-सुख से सौगुना कहा गया है। सांख्य-योग दर्शन ने भी जो आत्म को पुरुष और प्रकृति को स्त्री का रूपक दिया है उसमें माधुर्य भाव विद्यमान है। बौद्ध धर्म जब अव्यवृत्ति की ओर ढल रहा था तो उसने क्रमशः तांत्रिक रूप धारण किया और वज्रयान के नाम से प्रगट हुआ। इस यान के अनुयायी सिद्धों ने महासुख-वाद के सिद्धान्त का प्रचार किया जिसके अनुसार सहवास-सुख और महानिर्वाण-सुख को समकक्ष माना गया। देवी-देव-

साओं के 'युगनक्ष' स्वरूप की चल्पना करनेवाले संतों ने डोमिन घोषिन आदि के साथ स्वीरविहार को अपनी साधना का प्रमुख अंग मान लिया और हठयोग आदि की बातों का रहस्यमय संमिश्रण करके 'संख्याभाषा' में अपने इस सहवासमुख को अगवत्तामिजन्म आनन्द का प्रतीक मान कर उस विषय के बोधे लिये और अपने धीमत्स व्यापार को आध्यात्मिकता का मिथ्या-वरण दिया ।

वसयानियों का महामुग्धवाद जब नाथपंथ से चल कर कबीर तक पहुँचा तो इसका रूप श्लोठ और परिष्कृत होगया । इसके अतिरिक्त साधुर्य का काव्यगत रूप भी निरतर आया । हमने ऊपर कहा है कि सांख्य द्वारा आत्मा को पुरुष और प्रकृति को स्त्री का रूपक देना दार्शनिक रहस्यवाद की कोटि में शुमार किया जायगा । किन्तु यही रूपक जब तर्क और चिन्तना के क्षेत्र को छोड़ कर चल्पना के पंखों के सहारे भावुकता के गगन में पहुँच जाता है तो काव्यगत रहस्यवाद को जन्म देता है, क्योंकि साधुर्यभाषा इसी का भावुक रूप है जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगन् के नाना रूप स्त्री-रूप में देखे जाते हैं^१ ।

साधुर्यभाष की वह धारा जो वसयानियों से आई थी कबीर-

में शुद्ध काव्यगत रूप में दिखाई पड़ी। इस रूप पर सूफियों के प्रेममार्ग तथा वैष्णवों के मधुर भक्तिमार्ग की भी छाप पड़ी थी। कबीर कभी तो अपने आराध्यदेव 'राम' को अपना बालम मान कर उनके विरह में तड़पने लगता था, और कभी उनसे मिठकर अपने सोहाग की प्रशंसा करता था, और कभी तो मिलन की षड़ियाँ कैसे फटेंगी—इसी शङ्का में घेचैन हो जाता था।

१ देखिये कबीर की निम्नलिखित पक्तियाँ—

(१) तदुर्फ पिनु बालम मोर जिया ।

दिन नहिं सैन रात नहिं निद्रिया तदुक्त-तदुक्त के मोर किया ।

तन मन मोर रहत भस कोले सुनि सेज पर जनम टिया ।

मैन थकित भए पंथ न मूही सैराँ, वेदरही मुख न लिया ।

(२) बहुत दिनन की जोवती बाट सुगहारी राम ।

जिय तरसे तुम मिलन को मन नाहीं बिसराम ॥

(३) दुलहिन गारुडु गंगलवार ।

हमरे घरे भाए राम भतार ॥

(४) सखी सोहाग राम मोहि दीन्हा ॥

(५) मन प्रतीति ना प्रेम रस ना इस तन में छंग ।

क्या जानाँ उस बीच सूर्यखो रहसी संग ॥

—रत्नादि ॥

दादू ने स्पष्टतर शब्दों में घोषित किया था कि—

हम सब नारी एक भतार ।

सब कोई तन करे सिंगार ॥

जायसी ने भी भगवान की प्रेम-परक भक्ति का मार्ग दिखाया किन्तु कबीर और जायसी की प्रेमपद्धतियों में कुछ ध्यान देने योग्य अंतर थे । प्रथम तो यह कि हिन्दू-मुसलमानों के समानरूप से प्रेम का भाजन होते हुए भी कबीर का राम निर्गुण है, परोक्ष है; किन्तु जायसी ने लौकिक कथानकों का प्रेम-मय चित्रण करके हिन्दू-मुसलमानों के प्रत्यक्ष जीवन की रागा-मक एकता प्रतिपादित की और प्रत्यक्ष जीवन में ही भगवान को प्रत्यक्ष करने की राह बताई । दूसरी बात यह कि जायसी की दृष्टि में 'प्रेम की पीर' की जितनी महत्ता है उतनी कबीर की दृष्टि में नहीं । कबीर में संभोग पक्ष भी उतना ही प्रबल है जितना वियोग पक्ष । संभवतः अधिक; किन्तु जायसी में वियोग पक्ष की ही प्रधानता है—ईश्वर का विरह ही सूफी साधक की सभी सम्पत्ति है । तृतीय अंतर यह है कि कबीर का माधुर्य सूफीमत से प्रभावित होते हुए भी सर्वतोभावेन भारतीय ही रहा, रामानंद के हाथों दीक्षित होने एवं वैष्णव संतों की संगति तथा हिन्दू वातावरण में रहने के कारण उनकी ईश्वरभावना में विजातीयता का अधिक समावेश हो ही नहीं सकता था । किन्तु जायसी का माधुर्य सूफीभावना से दर-किनार नहीं रह सका । कबीर के लिये फिर भी उसका आराध्य उसका प्रणयी है; किन्तु 'पद्मावत' तथा ऐसी अन्य प्रेमगाथाओं के अध्ययन से यह मान होता है कि जायसी ने जीवात्मा को 'जोगी' अथवा साधक पुरुष के रूप में कल्पित किया है और परमात्मा को उस

की प्रणयिनी के रूप में; क्योंकि हम जानते हैं कि सूक्तियों के 'मजनों को अल्लाह भी लैला नजर आता' था ।

सधर शुद्ध यैष्णवपरम्परा के माधुर्यभाव के प्रथम विकास के लिये हमें दक्षिणात्य निम्बार्क (१२ वीं शताब्दी) और विष्णु स्वामी (१३ वीं शताब्दी) के क्रमशः द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना होगा ।

निम्बार्क ने राधा और कृष्ण के मधुर युगल को तथा विष्णु स्वामी ने रुक्मिणीवल्लभ विष्णु को ही अद्वैत ब्रह्म का व्यावहारिक तथा भक्ति-सुलभ रूप माना है । वल्लभाचार्य (१६ वीं शताब्दी) में चल कर माधुर्यप्रधान यैष्णव भक्तिपद्धति की लहर दक्षिणी ही नहीं परन्तु उत्तरी भारत में भी एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गई । वल्लभ के पुत्र शिष्टल और उनकी प्रसिद्ध 'अष्टछाप' ने यह लहर हिन्दी के अंचल तक पहुँचाई और सूरदास तथा नंददास की मधुर पदावलियों से हिन्दी का काव्य-कलेवर सज्जित हो उठा । भारत के उत्तर-पौरस्थ प्रदेशों में माधुर्यभाव की काफली कृजित करनेवालों में मैथिल-कोकिल विद्यापति पंडीदास और चैतन्य के नाम सहेस्तनीय हैं । यैष्णव परम्परा के इस माधुर्यभाव में रहस्यमयता का अंश कम है, किन्तु शून्य नहीं; क्योंकि राधाकृष्ण के स्पष्ट, तथा कहीं कहीं सदास, शृंगार के वर्णनों में भी—सास कर सगुणवादी संतों के वर्णनों में—अध्यात्म प्रेम की अन्तर्धारा अवश्य प्रवाहित होती है । और इसी अन्त

धारा के आधार पर हम उनमें रहस्यमयता का समावेश कर सकते हैं ।

जय मीरा ने अपनी कोणा उठाई और उसके तारों को छेड़ा तो धनसे निकल कर गूँजती हुई संगीत की लहरियाँ 'इन्द्रधनुष बन कर निर्गुण और सगुण दोनों दिग्विभागों में छा गईं । उसकी नारीमुलभ भावुकता ने जहाँ भी माधुर्य का स्रोत देखा वहीं झुबझुपौं लगाईं । अतः कभी तो हम उसे 'मेरी तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' गाते हुए रास रचाते देखते हैं, तो कभी 'निर्गुणसेन' विछा कर अपने प्रियतम का आवाहन करते पाते हैं । रहस्यमयता की दृष्टि से मीरा का स्थान सामान्य वैष्णव संतों से कहीं ऊँचा है और उसकी पदावली कहीं अधिक चुमीली एवं कसरीली ।

१ ऊँची भटरिया छाल किवरिया निर्गुण सेन विछी ।
 पंचरँगी झालर मुभ सोहे, पूछन कूळ कली ।
 बाजूबंद कटूछा सोहे सेंदुर मँग भरी ।
 मुमिरन बाल हाथ में छीन्हा मोमा अधिक भली ॥
 सेन मुखमना मीरा सोई मुभ हे भान घरी ।
 हम जावो राणा घर भरने, मेरी तेरी नाहि सरी ॥

१ मुलना कीर्तिये 'साय' की मूमिका-पृ० ४ :—

प्राचीन हिन्दी साहित्य का भी अधिकांश गेय है । तुलसी का हृद के प्रति विनोद आत्मनिवेदन गेय है । कबीर का मुदिगम्य तत्त्वनिर्दर्शन संगीत

नप्रयुग-काव्य के माधुर्य-मधुप ने अपरिचित साहित्य के सभी सुगनों से मधुकरियों मोंगकर उनके सौरभ से अपने सदन को सुगमित किया। "आज भीत में हम जिसे रह-स्यवाद के रूपमें ग्रहण कर रहे हैं यह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविशा की अपारिचयता ली, वेदान्त के भट्टेव की छायायात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्यभाव-सूत्र में घोंव कर एक निराळे स्नेहसंश्लेष की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को अवलंब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय ओर हृदय को मस्तिष्कमय बना सका"^१।

प्रिय चिरन्तन हे सजनि
क्षण क्षण गवीन मुटागिनी मैं ।

तो मधुरता में बसा हुआ है। घर में कृष्ण-जीवन का दिग्दर्शक इतिहास भी गीतमय है, और गीत की व्यापारिक परबली से सारे जगत की सन्नाही हो रही जाने योग्य है।

२ महादेवी वर्मा—'वामा' की भूमिका पृ० ६।

१ वामा पृ० २१९ (साव्यगीत)।

—जैसी पंचियाँ इसी निराळे स्नेहसंयन्त्र की द्योतरु हैं ।

अथवा ये—

आ मेरी चिर मिलन-यामिनी !

..... ..

तम में हो चल छाया का दाय
सीमित की असीम में चिरलय
एक द्वार में हों अत शत जय
सजनि ! विश्व का कण कण मुझ को
आज "कहेगा चिर सुहागिनी" ।

‘संकार’ में माला, खोज, भूलभुलैया, आँखमिचौनी, वद्विता, ज्ञान और भक्ति, चोर चोर ! असावधाना, कुहक, थस थस, उत्कंठिता—आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनके आधार पर हम गुप्तजी की माधुर्यभावना को आँक सकते हैं । इन कविताओं की मुख्य भावना है भगवान-रूप-पुरुष के प्रति भक्त-रूप नारी का प्रणय-निवेदन । उदाहरणतः—

चोर चोर !

घर के पीछे हो उठ शोर

मैं जाग पड़ी

हो गई खड़ी

फिर चौंकी ज्यों चौंके चकोर

चोर चोर !

अथवा—

दूती ! बैठी हूँ सज कर मैं

ले चल दीप्र मिलूँ प्रियतम से

धाम धरा धन सब तज कर मैं ।

इसी प्रकार अन्य बहुत सी पंक्तियाँ उद्धृत की जासकती हैं जिन में कवि अपने वनमाली के प्रेम में बसकी रानी वन उससे लुकता है, छिपता है और आँखमिचीनी खेलता है । जो भी हो, गुप्तजी को कठम से निकली हुई ऐसी लाइनें पढ़ने पर हृदय में वस मधुरिमा का संक्रमण नहीं हो पाता जिसका महादेवी वर्मा की लाइनें पढ़ने से हुआ करता है । कविता में कवि का हृदय होना चाहिये, अमजग्य अनुकरण नहीं । किन्तु यह स्पष्ट है कि 'संकार' की माधुर्यमय पंक्तियाँ तीरस नकल हैं—काव्य का कलेघर

१ संकार (छल्ला) पृ० १४८ ।

२ संघर (उत्थिता) पृ० १९१ ।

तो है, किन्तु न तो उसके पहलू है न उस पहलू में दिल, और न है उस दिल में उस की मधुर धारा। एक तरफ तो इन पंक्तियों के स्नेह का हृदयंगम कीजिये और दूसरी ओर कवि की 'भारत-भारती' जैसी रचनाओं के सम पौलव को—दोनों में संगति मिलना कठिन हो जाता है। गुप्तजी के काव्यसाम्राज्य में माधुर्यपरक पद्य दत्तक-पुत्र के समान गोद लिये गए भान होते हैं अथवा जहाँ तहाँ ऊसर में खड़े खजूरों के समान निष्प्रभ मालूम होते हैं।

(ग) विप्रलम्भ पक्ष का प्राणल्य और उससे प्रेम:—
माधुर्यभाष की सामान्य आलोचना करते हुए पिछली पंक्तियों में यह प्रतिपादित किया गया है कि जितनी मार्मिक अभिव्यञ्जना 'प्रेम की पीर' की जायसी में है, उतनी कबीर में नहीं, विप्रलम्भ पक्ष का जितना प्राणल्य जायसी में है, उतना कबीर में नहीं। यह वक्ति केवल जायसी के ही पक्ष में नहीं, अपितु अन्य प्रेम-गाथा-कवियों के संबन्ध में भी घटित होती है; उदाहरणतः 'मंझन' की 'मधुमालती' में—

बिरह अवधि अवगाह अपारा
कोटि माहि एक परै न पारा
बिरह कि जगत अँविरथा जाही
बिरह रूप यह सृष्टि सवाहीं।

प्रेमाख्यानक कवियों का विप्रलम्भ सूक्ष्मत्व की सीधी देन है, क्योंकि उसके अनुसार साधक का ईश्वर से बिरह चिरस्थायी

होता है। विरह की 'मधुर पीर' की कोमल अभिव्यञ्जना ही सूफी कवियों का मुख्य ध्येय है, 'प्रेम की पीर' ही उनकी प्रधान सम्पत्ति है।

यद्यपि प्रेमाख्यानक कवियों से सूर आदि के कृष्णावत कवियों के विप्लवम से कोई सीधा संबन्ध नहीं माना जा सकता, फिर भी विचारधारा के विकास की दृष्टि से सूर और नन्ददास के 'भ्रमरगीतों' के उन पद्यों को हम अवश्य शामिल कर सकते हैं जिन में यह बताया गया है कि क्रमशः वियोग की व्यथा में पीड़ित रहना ही गोपियों को इष्ट हो चुका है, वे अपनी वेदना में ही आनन्द के मकरन्दचिन्दुओं का आस्वादन करने लगी हैं। वे कहती हैं:—

ऊयो तुम अति चतुर सुजान ।

जे पहिले रँग रंगी स्याम रँग तिन्ह न चढ़ै रँग आन ।

विरहिन विरह भजै पालगों तुम हो पूरन शान ।

दादुर जल विनु जिवै पवन भस्मि मीन तजै हठि प्रान ॥

पर ऐसे पद्य भ्रमरगीतों की सामान्य भावना के प्रतीक नहीं माने जा सकते क्योंकि उनमें विरह पक्ष प्रबल तो है किन्तु प्रिय नहीं। विरह का प्रयत्न होना और बात है, उसको सञ्चित निधि मान कर उस से प्रेम करना और।

मोरा की प्रेमसाधना में भी सूफी कवियों की 'पीर' नहीं है।

मोरा की आध्यात्मिक प्रेम की दुनियाँ में संयोग पक्ष ही प्रबल है, वियोग पक्ष नगण्य ।

किन्तु वर्तमान युग में—विशेषतः महादेवी वर्मा की कवि-
नाओं में—‘प्रेम की पीर’ एक बार फिर तरंगित हो उठी है । कव-
यित्री प्रियतम से दूर होती हुई भी, ‘अरण्यसुहागिनी’ है^१ ; उसने
अपने दुःख को, अपनी वेदना को, बड़े लाइ-स्यार से पाला पोसा है—

प्रिय ! जिसने दुःख पाया हो ।

जिन प्राणों से लिपटी हो

पीड़ा मुरझित चंदन - सी

तूफानों की छाया हो

जिसको प्रिय - आलिंगन-सी

जिस को जीवन की हारें

हों जय की अभिनन्दन-सी

पर दो यह मेरा आँसू

उस के उर की माला हो^२ ।

गुप्तजी की ‘झंकार’ में भी नवयुग की वे भावनाएँ गुजित
हो रही हैं जिनमें ‘वेदना के मधुर कम में’ ही रूति मिलती है,
बन्धन में रहने में ही मजा मालूम होता है ।

१ यामा (नीरजा) पृ० १११ ।

२ यामा (नीरजा) पृ० १५८ ।

वे कहते हैं—

सखे ! मेरे बन्धन मत खोल
आप बंध्य हूँ, आप खुलूँ मैं
तू न बीच में बोल !

अथवा सूफी विचार से मिलवी-जुलती ये पंक्तियाँ—

सिद्धि का साधन ही मोल
सखे मेरे बंधन मत खोल !

कवि को यह घोषित करते हुए गर्व है कि—

मैंने एक ब्यथा-ब्याली
पाली इस घट में ढाली
ब्याली की गणि उजियाली !

उसे यह समझा है कि उसके भगवान एक बार खीज उठें, तभी
तो वह उस विकलता में आनन्द से क्रन्दन कर सठेगा; और
क्रन्दन का अभिनन्दन उसे इष्ट भी है:—

एक पुकार, एक चीत्कार
मुझे चाहिये आज उदार !

१-२ संस्कार (बंधन) पृ० २५ ।

३ संस्कार (स्वरमंग) पृ० ८४ ।

४ संस्कार (स्वरमंग) पृ० ८४ ।

रहस्यवादी कविता की इस कारुणिक-वेदना-प्रियता का मूल निहित है हमारे कुंठित राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार और रस्मोरिवाज में। अतः यदि गुप्तजी की भावुकता में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

(घ) छन्दों की स्वच्छन्दता:—जब नवयुग ने छन्दों के रंग ढंग में परिवर्तन किया और मनमाने आकार-प्रकार के छन्दों की रचना शुरू हुई, तब दकियानूसी आलोचकों ने उन्हें 'रघड़ छन्द', 'स्वच्छन्द छन्द' 'कँचुमा छन्द' 'कांगरु छन्द' आदि व्यंग्यात्मक संज्ञाएँ दीं। किन्तु जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले; छन्दों ने अपनी काया पर व्यक्तित्व और प्रगतिशीलता की मुहर लगा ही छोड़ी। इस प्रगति के विरोधकों में पं० मर्हावीरप्रसाद द्विवेदी भी थे। उन्होंने लिखा है—

“ये लोग बहुधा थड़े ही विलक्षण छन्दों या पृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छःपदे कोई ग्यारह-पदे ! कोई तेरहपदे ! किसी की चार सतरें गण गण भर लम्बी तो दो सतरें दो ही दो अँगुल की”। इन कारणों से द्विवेदीजी ने ‘आजकल के छायावादी कवि और कविता’ शीर्षक छेप में उन्हें अस्पृश्य माना है।

किन्तु हमारा मत है कि प्रत्येक युगविशेष को कविता की वेश-भूषा में परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार है। यदि हम ने सदियों की मनोवृत्तियों को दूर फेंक दिया है, तो सदियों से आती हुई

घाँघर और घूँघट को भी हटाना पड़ेगा । यदि क्रान्ति को भाव-
नाओं से उठावला युवक पुरानी लकीरें न पीट कर नई रंग-
रलियाँ और अनूठी अठखेलियाँ दिखावे, तो बुरा क्या ? इसके
अतिरिक्त भाषा या शैली भाव के व्यक्त करने का साध्यम है ;
अतः भाव को स्वतंत्रता है कि अपनी अँगुली के इशारे भाषा
को नचावे ।

उदाहरणतः कवि रवीन्द्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ:-

हे सम्राट कवि
एह तब हृदयेर छवि
एह तब नव मेघवृत्त
अपूर्व, अद्भुत
छन्दे गाने

उठियाळे अलक्ष्येर पाने ॥

क्या कवि का इन छाइनों के लिखते समय यह देख लेना
जरूरी था कि ये पिंगल ऋषि के छन्दःशास्त्रीय नियन्त्रणों से
पगावत हो नहीं करती ? हर्गिज नहीं । यह ठीक है कि अनधि-
कारचेष्टा अथवा अपरिणत मस्तिष्क की उच्छृङ्खलता कभी भी
वचित नहीं है, किन्तु साथ ही साथ यह भी ठीक है कि परिणत
प्रतिभा के मौलिक विकास की गतिविधि को कुंठित करना
साहित्य के प्रगतिशील व्यक्तित्व पर कुठाराघात करना है । हिन्दी
के नवयुगीन कवियों में 'निराला' का स्थान निर्यन्त्र छन्दों की
रचना की दृष्टि से औरों से अधिक प्रौढ़ है । उन्होंने 'परिमल'

की भूमिका में अपने मुक्तछन्दों की न्याय्यता प्रतिपादित करने के लिये वेदमंत्रों तक का हवाला दिया है तथा उन की परिभाषा यों दी है—

“मुक्त छन्द तो वह हैं जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त हैं.....उनमें नियम कोई नहीं है.....मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उस की मुक्ति”।

तत्पर्य यह कि यदि हमारी छाशनों में छय हो, प्रवाह हो, संगीत हो, तो खामोखाह अक्षरों और मात्राओं की संख्या के पीछे माधापची करने की आवश्यकता नहीं है।

गुप्तजी की ‘शंकार’ में भी कुछ ऐसे पद्य हैं जिन्हें हम स्वच्छंद छंद की पाँव में बिठा सकते हैं। यथा—

यह हँसी कहाँ !

तुम कौन यहाँ !

यह बंचकता कैसी कठोर !

चोर चोर !

इन पंक्तियों में कवि की व्यक्तिगत संगीतभावना ही ‘प्रमाणम्’ है छन्दः शास्त्रों के पचकों में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं। नपे-तुले सांधों में काव्यकलशों के ढालने का समय बीत गया; और बीता हुआ समय ‘न पुनरावर्त्तते ! न पुनरावर्त्तते !’

नाटक

‘तिलोचना’ लगभग सौ पृष्ठों का, पौराणिक इतिवृत्त पर आधारित, एक रूपक है। संक्षिप्त कथा-वस्तु यह है :—

अंक १

वैद्यगण उत्सव मना रहे हैं कि—

हों रे दिन फिर फिरे हमारे।

नहीं फिरेंगे अब अनाथ-से हम सब मारे-मारे ॥

कारण यह है कि सुंद और वपसुंद नामी वैद्यराजों को वपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने यह वरदान दिया है कि ‘तुम दोनों को दूसरा कोई मार नहीं सकता।’ अब तो स्वभावतः दानवों के हृदय में अपने चिर-शत्रु देवताओं से बदला लेने और निष्कण्टक राज्य करने की छालसा प्रवृत्ति हो उठी है।

अंक २

सधर इन्द्र और कार्तिकेय भी देवकुल की रक्षा के लिये बद्धपरिहर हैं। इन्द्राणी के हृदय में शंका हो रही है कि देवासुर-संग्राम का परिणाम विषम न हो। किन्तु क्रमशः उसका भय जाता रहता है। कुमार जयन्त भी रण के लिये चल पड़े हैं।

अंक ३

कुबेर, वरुणादि देव तथा सुंद, उपसुंदादि दानव परस्पर भिड़ गए हैं। किन्तु दानव प्रबल सिद्ध होते हैं। देवताओं को संयोगवश वरदान-वाली रहस्य मालूम हो जाता है और इधर युद्ध तो किसी कदर जारी रहता है, सधर देवगण यह सोच रहे हैं कि यदि वे दूसरों से नहीं मारे जा सकते तो उनमें आपस में ही मूट पैदा करनी चाहिये। फलतः इन्द्र मझा के ही पास उनके दिये वरदान के प्रतीकारार्थ जाते हैं।

अंक ४

विजयोन्मत्त सुंद और उपसुंद के पास उनकी मर्त्यलोक-विजयी सैनिक 'भयंकर' हिमालय की गुफाओं में मिली हुई दो अप्सराओं को प्रस्तुत करता है। चर्वशी और रम्भा सुंद और उपसुंद का संगीत द्वारा मनोविनोद करती हैं।

अंक ५

इन्द्राणी देवों के देवविपर्यय से सोच में पड़ी हैं तब तक मेनका यह संवाद लाती है कि इन्द्र के आप्रह करने पर ब्रह्मा ने "सारे सुंदर पदार्थों का तिल-तिल भर सौन्दर्य-सार संग्रह करके एक अपूर्व सुंदरी मूर्ति निर्मित की" है—^१ विलोत्तमा ! इसके भविरिक्त, विन्याचल पर वसन्त-मुपमा !

खिलती हुई वसुमावली को चपल अलिल चूमता
शीतल सुगंध समीर-भी है धीर गति से घूमता
मद-तुल्य क्षरनों के कमल जल में कमल-कुल हँस रहा
पर विन्ध्यगिरि भी आज मानों मत्त गज-सा झूमता^२ ।

सुंद और वपसुंद दोनों भाई 'प्रकृति-सुंदरी' की 'रोमाञ्चित'
रूप-राशि निहार रहे हैं—पी कर मस्त !

उधर विलोत्तमा प्रकट होती है, उन्हें आसंगित करती है—

आओ, हे जीवन-धन ! आओ !^३

किन्तु कहती है कि—मैं संकट में पड़ी हूँ; शत्रुओं ने सब

१ विलोत्तमा पृ० ८५ ।

२ " " ८६ ।

३ " " ९२ ।

संपदा हर ली है; अब मैंने प्रतिज्ञा की है कि संसार के सबसे शक्तिशाली पुरुष को ही चरण करूंगी। यह सुनकर दोनों भाई आपस में लड़ पड़ते हैं और उस कामिनी के लिये प्रतिस्पर्धा इनकी समाधि साबित होती है।

उपर्युक्त कथानक में कारुण्य-पूर्ण स्थल दो हैं—

(१) इन्द्राणी का मनोमालिन्य; और—

(२) सुंदर सुंद की मृत्यु।

(१) इनमें प्रथम परिस्थिति शरत्काल के बादल के समान आवी है और फुहारें बरसा कर चली जाती है। इन्द्राणी का शोक घनीभूत भी न होने पाया है कि मेनका आकर शुभ संवाद देती है और देवराष्टी के हृदय-कुसुम खिल उठते हैं। अब कवि ने इस स्थल पर किसी ऐसे कारुणिक दृश्य अथवा कथनोपकथन का समावेश नहीं किया है जो हमारे मर्मस्थल की सज्जित कारुण्यधारा को छलका दे और वह पुतलियों से दुलक पड़े। किन्तु यह अवश्य है कि कारुण्य के उद्बोधन की जो कुछ थोड़ी-सी सामग्री जुटाई गई है उसमें पूर्वापर दशाओं का वैषम्य ही प्रधान है। जो व्यक्ति सदा ही दुखी रहा—आँसू में पला और आँसू में गला भी—उसके हृदय में कारुण्य का श्रोत सूख-झा जाता है। किन्तु जो दूध का घुला हो, यदि उसे

१ अंक ५ (निष्क्रमक)।

२ अंक ५ अंतिम खंड।

ही 'नील माट' में हुसोया जाय, तो अनायास ही उसके रोम-रूप से करुणा प्रन्दन कर चढ़ेगी । इन्द्राणी को भी अतीत के घमघ की स्मृति काँटे-सी चुभ रही है ।—

मेरा यह नयनागिराम घर बैजयन्त-सा धाम कहाँ
फलफलताकुन्जों से शोभित दिव्य नन्दनाराम जहाँ
हाय बियाना । दैत्य दस्यु अब करते हैं विश्राम यहाँ
और रत्न भी कठिन हुआ है हमको आठो धाम यहाँ ।

इन मनास्ताप में इन्द्रदेव भी नहीं हैं कि फोले सहलायें ।
रौर, जैसा ऊपर कहा गया है, इन्द्राणी का मनस्ताप शीघ्र ही
मिट गया और 'इन धारन धै फूल' भा गए ।

(ii) मुंद वपमुंद की मृत्यु कला की दृष्टि से अधिक विवेचनीय है । उसका जो चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है वह तीन शाश्वत सत्तों की ओर इंगित करता है—

(१) पराजित आवतायी की भी मृत्यु दर्प का विषय नहीं, अपितु शोक का ।

(२) विजेता की विजय इसी में है कि वह अपने शत्रु की पराजय से द्रवित हो बैठे ।

(३) मरण के समय फलुषित हृदय में भी पुण्य की कड़ी रिलने लगती है ।

(१) दानवों के 'सूर्य-चन्द्र' दोनों अस्त हो चुके हैं । उनके सच्चे सेवक 'भयंकर' और 'विकराल' हाथ मार कर रो रहे हैं ।

अन्यत्र, तिराकरिणी के पीछे दानवों में हाहाकार और देवताओं में जयजयकार की ध्वनियाँ गूँज रही हैं। ऐसी दशा में इन्द्र के लिये—विजय की चारुणी में माते हुए इन्द्र के लिये—खूब हँसना चाहिये था, आवेश में आकर यही हुई लाशों पर भी दो बार बार करना चाहिये था। प्रतिहिंसा के नाते सब कुछ समर्पणीय हो सकता था। किन्तु, गुप्तजी ने सोचा, यदि बिभ्र का यही पहलू दिखलाया गया तो रजोगुण ने सत्यगुण को तिरोनूत कर दिया; दानवी प्रवृत्तियों का ही सिर ऊँचा हुआ। अतः उन्होंने इन्द्र—जैसे महान चरित्र के अंकन में ऐसा न होने दिया। जब इन्द्र ने देखा कि दोनों दानव-बीर घराशाही पड़े हैं तो उन्होंने अपनी सेना को 'हाल्ट' (Halt) का हुक्म दिया; उनके शत्रुओं के प्रति संमान की भावना दिखाई और यह कहते हुए उनके अनुचरों को अमर्य दान दिया कि "दुख में हम किसी से शयुक्त नहीं रखते, सहानुभूति ही रखते हैं"।

दुःख में शत्रुओं से भी सहानुभूति—यह गुप्तजी के अमर संदेशों में से है। तिलोत्तमा—जिसने मञ्जारी की धी, जिसने रमणी-रमणीयता की दीप-शिक्षा पर मुँद और उपमुँद रूपी शलभाओं को पहले नाथ नचाया और फिर उन्हें भ्राम कर दिया था,—यही तिलोत्तमा उनके निधन पर पिघल पड़ती है। देवों का विलाप सुन कर उसकी नारी-मुहम समवेदना बोल पड़ती

हे—“कैसी कारुणिक पुकार है !”^१

(२) आज से दो हजार वर्षों पहले, जिस दिन अशोक ने कलिंग में लाखों अरि-सैनिकों के खून की नदियाँ बहाई, उस दिन प्रतिक्रिया रूप में, उसके हृदय में करुणा की सौ-सौ धाराएँ फूट पड़ीं। कलिंग-विजय उसकी भौतिक विजयों की अन्तिम दीप-शिला सिद्ध हुई। उसने अपनी शोणित की प्यासी सलवार म्यान में रख दी; अहिंसावाद ने हिंसावाद को शिकस्त कर लिया और सम्राट ने मानवता को यह अमर संदेश दिया कि—“धर्मविजय ही सर्वोत्कृष्ट विजय है”^२। इसी विजय का आवाहन किया है द्विद्वार्य ने ‘यशोधरा’ में,—‘ला, हृदय-विजय-रस-वृष्टि-लाभ !’ अशोक ने यह भी घोषित किया कि “सम्राट्का अनुताप छैय्य नहीं है, वह तो प्रभुत्व का प्रतीक है”। अतः जब प्रस्तुत नाटक में हम इन्द्र को अपने क्रूर प्रतिद्वन्द्वी के मरण पर आँसू बहाते तथा उसके यथोचित सम्मान के लिये प्रस्तुत पाते हैं, तो साथ ही साथ मानस की आँखों से अमरावती की अट्टालिकाओं पर ‘धर्म-विजय’ की वैजयन्ती भी अंकित और तरंगित देखते हैं।

यदि इस घटना पर दूसरी दृष्टि से विवेचना की जाय, तो भी इन्द्र को इस मनोभावना का समर्थन हो सकेगा। प्रस्तुत कविता की विशेषता ही यह है कि वह देश, काल, पात्र के

१ तिलोत्तमा पृ० १०२।

२ पण्डित अशोक का शिलालेख (Rock Edict) सं. १३।

व्यक्तित्व से हटा कर हमारी कल्पना को सर्व-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाय । मृत्यु चाहे परोपकारी की हो अथवा आततायी की, मृत्यु मृत्यु ही है । कटार की मार से आहत किसी निरोह पकड़े का, अथवा बन्दूक की गोली लगने पर किसी नृशंस न्याय का, खून के पनाछों में छुटपट छुटपट करना और मर्मभरे चीत्कारों के बाद शून्य में सदा के लिये सुश्रो आँखों से देखने लगना—भला किसके हृदय के मर्मस्थल को सजल न बना देगा । कवि की सफल तूटिका किसी काळ-विशेष में किसी रस-विशेष का परिपाक इस तरह अंकित कर सकती है कि हमारी अनुभूति-भात्र सजग हो और सारी चिन्तना-प्रधान वृत्तियाँ सो जायँ, और जब चिन्तना ही सो जायगी तो देश, काल, पात्र का ध्यान आयगा ही कैसे ! अतः, हमारी सम्मति में, असमय मृत्यु, चाहे न्याय्य हो अथवा अन्याय्य, पापी की हो अथवा पुण्यात्मा की—कठण रस का ही आलंबन बनेगी; हास्य, धीर अथवा वीभत्स की नहीं । सुंद-उपसुंद की महानिद्रा का सकलण चित्रण और उनके प्रति प्रतिपक्षी इन्द्र की भी समवेदना—ये दोनों बातें गुप्तजी के सूक्ष्म एवं उदात्त मनोवैज्ञानिक अध्ययन की परिचायक हैं ।

(३) गुप्तजी ने यह बताया है कि सुंद अपने प्रिय सैनिक विक-राल से यही अन्तिम संदेश कहता है कि—तुमसे हमारा अंतिम अनुरोध यही है कि हमारे समाधि-मंदिरों की ऊँची-ऊँची पता-काओं पर, सय से पड़े जाने योग्य, बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा देना कि—

सुन्द और उपसुन्द का है सब से अनुरोध
सावधान, देखो, कभी उठे न बन्धु-विरोध' ।

परिस्थिति का यह चित्रण एक बहुत बड़े दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है—यह यह कि, मानव-हृदय दैवी और दानवी भावनाओं को विरन्तन युद्ध-भूमि है। इस विश्व के सभी व्यक्तित्व में स्फुलिंग के रूप में प्रज्ञा की विभूति छिरो हुई है, किन्तु उसे हमारी वासनाएँ राख बनकर ढक लेती हैं। फिर यही राख जम प्राण-पक्षेदुओं के पंखों की फड़फड़ाहट के कारण उड़ने लगती है, तो वह क्षीबन भर की कुण्ठित विनगारी एक बार चमक उठती है। क्रूर से क्रूर हृदय में भी मरणासन्न होने पर अनुताप की आवाज जल हो पड़ती है। यदि सुन्द और उपसुन्द भी मृत्यु-शय्या पर पड़े अपने आप पर तरस खाते हैं और अपने पतन को दूसरों के उत्थान रूपों जहाज के लिये 'वेकन-आइट' बनाना चाहते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या ! यदि गुप्तजी इन कारुणिक परिस्थितियों का ऐसा नाजुक चित्रण न करते और इन्द्रादि देवताओं को भट्टहास करते हुए प्रदर्शित करते तो वह भी फारुण्य ही होता—लेकिन वय, कोमल नहीं; शुष्क, द्रवित नहीं; दानवीय, दिव्य नहीं !

(अ)

‘अनघ’ बौद्धकाशीन जातक-साहित्य का ऐदंयुगीन रूपान्तरण है। बौद्धों के प्राचीन पाली-साहित्य में जातकों अथवा जन्मान्तर-कथाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन कथाओं में बोधिसत्त्व के भिन्न भिन्न जन्मों के ‘अवदान’ वर्णित हैं और यह प्रतिपादित किया गया है कि बोधिसत्त्व चाहे इन्द्र हुए हों चाहे रुद्र, चाहे राजा हों चाहे रंक, चाहे महिषी (रानी) हों चाहे महिषी (भैंस),—सभी परिस्थितियों में उनके चरित्र उदात्त और अवदात ही रहें। बौद्ध विद्वान आर्यसूरि ने चौतीस प्रमुख जातकों का संस्कृत में छायानुवाद किया^१। अपने ग्रंथ की

^१ देखिये The Jataka-mala (Harvard Oriental Series, vol.

1) Editor Dr. H. Kern तथा उत्तम आम्बानुवाद Speyer द्वारा

भूमिका में आर्यसूरि ने लिखा है कि इन जातकों का उद्देश्य धार्मिक कथाओं को रमणीय रूप देकर उन्हें लोकप्रिय बनाना है^१। इन सभी जातकों की एक विशेषता यह है कि उनकी केन्द्रीय भावना किसी धर्म और आचार-विचार सम्बंधी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। उदाहरणतः 'क्षान्तिजातक' के आरंभ तथा वपसंहार दोनों स्थलों पर हमें यह उपदेशवाक्य अंकित मिलता है कि—'सदाचारो व्यक्ति शत्रुओं के हृदय को भी हर लेते हैं'^२।

गुप्तजी का चरित्र-नायक मध 'भगवान बुद्ध का एक साध-नावतार' है; और उसे भी अपने जीवन द्वारा एक महान उपदेश देना है। वह उपदेश हम सिद्धान्तवाक्य के रूप में मुखपृष्ठों पर ही अंकित पाते हैं—

न तन-सेवा, न मन-सेवा
न जीवन और धन-सेवा;
मुझे है इष्ट जन-सेवा;
सदा सखी भुवन-सेवा।

ये पंक्तियाँ उस स्थल से उद्धृत की गई हैं जहाँ आवेश में मध अपनी प्रेयसी सुरभि से अपना जीवनोद्देश्य उद्घोषित

१ स्यादेव क्लृप्तमनसामपि च प्रसादो धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।

२ दिपतामपि मनास्पावर्जयन्ति सद्गुणानुवर्तिनः।

करता है' । यशोधरा का परित्याग करते समय सिद्धार्थ की पुतलियों में भी तो इसी सेवा-भावना की मोहिनी मूर्ति धाबसी थी !

भुवन-भावने आ पहुँचा मैं
जब क्यों तू यों भीता है !
अपने से पहले अपनों की
सुगति गीतमी गीता है' ।

(आ)

'अनघ' के घटनाश्रम का आरंभ एक अरण्यप्रदेश में होता है जहाँ मघ के कंठ से निकली हुई 'विषम विश्व का कोना है !'—की तानें अँधेरी रात के निस्तब्ध अंचल-प्रदेश में भी वेदना और समवेदना की सिहरनें पैदा कर देती हैं;—वसी प्रकार जिस प्रकार सिद्धार्थ के 'ओ क्षण-भंगुर भव, राम ! राम !' की अन्तर्भाषनाओं ने 'यशोधरा' में की हैं^१ । क्रमशः उस पर कुछ चोर आक्रमण करते हैं । मघ अपनी धीरता से उनके धार का प्रतिकार करता है और साथ ही साथ उनके द्वारा आहत एक दूसरे व्यक्ति का शुश्रूषोपचार करता है ।

१ अनघ पृ० ९१ ।

२ यशोधरा पृ० ५ ।

३ " पृ० ९-१८ ।

किन्तु गाँव के मुखिया और ग्राममोजरू तथा राजकुलसेवी अनुषर उसके विरुद्ध पट्टयन्त्र रच रहे हैं क्योंकि यह 'सामाजिक विद्रोह' और 'जीर्णों को सिर चढ़ाने' के अभियोग का भागी है।

इन पापियों का भेजा हुआ एक सुरापायी मघ के घर आता है, और मघ तो चला है सुधारने किन्तु बन जाता है उसके प्रहार का त्रिकार। माँ बचाने आती है, और घायल होती है।

इधर मालिन की पोष्यपुत्री, 'रघु वंश की बाला' सुरभि के हृदय पर मघ छापा मार चुका है।

मघ छोट-सेवा में अकेला नहीं है। युवकों की टोली उसके साथ है।

मघ की माता और शुश्रूषणरता सुरभि ! माता मघ से उसके विवाह करने का धचन लेती है।

ग्राममोजरू तो मघ का महा दुश्मन है किन्तु उसकी भायाँ उसका समर्थक,—उसका और उसके सुधार कार्यों का।

राजा और रानी दोनों के हृदय में सांख्यिक भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

मघ और सुरभि परस्पर प्रेमालाप कर रहे हैं कि इतने में एक रून से अथपथ व्यक्ति आता है, जिसे ग्राम के शासक ने कोड़े मारे थे। दोनों उसकी सेवा में लग जाते हैं।

पट्टयन्त्रियों ने मघ का घर जला दिया है और उसे कारागार में भी निक्षिप्त कर दिया है।

मगध का राज-दरबार ! पह्यन्त्र का मंडाफोड़ ! मघ की निर्दोषता ! स्वयं रानी सुरभि का हाथ मघ के हाथों से देकर आशीर्वाद देती हैं ।

(इ)

‘अनघ’ की कथावस्तु में सर्वत्र व्यापकरूप से विषाद की अन्तर्घात प्रवाहित हो रही है । आरंभ में ही मघ इस संसार की दुर्नीतियों पर आँसू बहाता है—

है ऊपर ऊपर का हँसना
भीतर केवल रोना है !
विषम विश्व का कोना है ।

राजा प्रजा पर अत्याचार करता है, धनी गरीब पर, विद्वान् अपढ़ पर, ऊँच नीच पर ! मानव की मानव के प्रति ये अमान-यताएँ इस विश्व के रंगमंच पर एक काव्यनिरूपण हैं ।

Man's inhumanity to Man
Makes countless thousands mourn.^१

चोरों के द्वारा आहत व्यक्ति को देख कर मघ कराह उठता है—

यह जन वही है हाथ !
रुधिराक्त, भरण-प्राय !

१ अनघ पृ० ३ ।

२ Burns : Despondency.

धन हेतु जन-संहार !

यह क्या निषम व्यापार^१ !

गुप्तजी ने यह धिक्कित किया है कि मघ को देस कर उसके प्रतिपक्षी भी प्रभावित हो जाते थे। वह अनुकम्पा की प्रतिमूर्ति था। इसकी परदुस्-कातरता सबके चेहरे के आईने पर अंकित थी—

मुकुता देखो तो इस मुस की—

पड़ी है छाया-सी पर-दुस्त की^२ ।

साधारणतः, दुनियाँ में कौन किसका होता है ? सब अपनी अपनी धुन में मस्त हैं। आँख से अंधों ! पैर से लाचार ! जीर्ण शीर्ण चिथड़ों से अर्द्ध-नम्र, अर्द्ध-वेष्टित ! सड़क के एक कोने में कूड़े-ककट से भरी पगडंडी पर पड़ी ! भूल की भट्टी में जलती ! 'दे दे राम ! दिला दे राम !' की करुण याचनाओं के साथ अन-चारत रूप से हाथ फैलाए हुई !—ऐसी बुढ़िया पर भी तो कोई तरस नहीं खाता ! सेठजी ! बाबूजी ! डाक्टर साहब ! मजि-स्टर साहब ! सेक्रेटरियट के अफसर ! काउंसिल के प्रोफेसर !—सभी के कानों के पर्दे पर 'दे दे राम ! दिला दे राम !' की ध्वनि टकराती है। किन्तु बुढ़िया की आवाज में इतनी ताकत

कहाँ कि सर सर करती हुई मोटर रुक जाय और पाकिट से एक पैसा निकल कर उसकी तटहथी में खा गिरे ! मग ऐसे हृदय-हीन व्यक्तियों के प्रति खीझ कर कहता है—

प्रतिवासी जब तक रोते हैं
तुम कैसे सो सकते हो !
अरे, हँसो तो मत जो उनके
साथ नहीं रो सकते हो !

हृदय पर चोट करने वाली ऐसी पंक्तियों से नाटक भरा पड़ा है ।

मग अपने आत्मतापियों के प्रति भी प्रतिहिंसा का भाव नहीं रखता । आग को ज्ञान्त करने के लिये घी नहीं चाहिये; चाहिये पानी । यदि गहरा विचार जाय तो इस सिद्धान्त की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है । सत्त्वतः, आत्मतापी सफल भले ही हो, वह भौतिक रूप से वग्नत भले ही दीये, किन्तु इसमें सो संदेह नहीं कि वह आध्यात्मिक रूप से पवित्र है; और पवन सर्वदा करुणा और समवेदना का विषय हुआ करता है । इस दृष्टि से नीरो, ज्वार अथवा रायण, अपनी पाशयिकता की लम विभूतियों के रहते हुए भी, शुभराह होने के नाते, हमारी अनुकम्पा के पात्र हैं, न कि भर्त्सना के ।

मघ फड़ता है—

किन्तु विरोधी पर भी अपने
 करुणा करो, न कोष करो ।
 विष भी रस बन जाय अन्त में
 उसमें इतना रस ढोलो—
 ओरे, बढ़ हो क्यों अपने में
 द्वार दया कर के सोलो ।

कारुण्य की मार्मिक उद्गायना की दृष्टि से 'मधुवन' शीर्षक
 दृश्य में रानी की उल्लियाँ सधियेप वल्लेख हैं । वह राजा से
 पाद-प्रतियाद करती है और उसे मानवृत्ता की आर्द्र सीढ़ियों से
 हो कर गुजारना चाहती है । उसे वसन्त का मुद्रावना समय
 पातकी और पापण्डी के रूप में नजर आता है । यदि प्रजा
 दुःख-दैन्य से पीड़ित है, तो वसन्त को तिलतिलाने का क्या
 अधिकार ? चमन में बैठकर कोयल को गाने का क्या अधिकार ?
 अतः वह उत्प्रेक्षा करती है—

यह हरा भरा मधुवन विशाल
 मानों लाखों का रक्त लाल
 पीकर भी भीतर शुष्क भूप
 है खड़ा झाड़-झंसाड़ रूप ।

सुन सुन कर यहां पतंग-गान
होता है मुझको आप मान
यह कोकिल-कुल की कलित कूक
पीड़ित हृदयों की हो न हूक

‘दग्ध गृह’ शीर्षक दृश्य में भी हम मध की मा आर मुराभ को दयनीय परिस्थितियों में पड़ी पाते हैं। घर जला दिया गया है, गाएँ छोन ली गई हैं, जीवन-धन मध चेड़ियों में जकड़ा बंदी रूप में माँ के सामने लाया जाता है। वस्तुतः बड़ी विषम परिस्थिति है। मुरिया मध की माँ से कहता है—

पर मैं मध को यहाँ, जिस तरह बन पड़ा,
लाया, मिल लो और करो अब जी कड़ा^१ !

पुदिया के लिये मुश्किल और परीक्षा का समय था। क्या वह घाड़ मारकर रोने लगी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी ? नहीं, वह मध की माँ थी—योग्य पुत्र की योग्य माँ ! वह साहस कर बोल छठती है—

जाओ बेटा, दण्ड मिले सो तुम सहो
अपने व्रत पर अटल अवल यों ही रहो^२ !

१ जनपद पृ० ७१।

२ " " १११।

३ " " १११।

मुझको तो है गर्व तुम्हारे कर्म पर
मेरा सुत बलिदान हुआ है धर्म पर^१।

जिस प्रकार मैं अपने चरित्र की महानता को कायम रखती हूँ, उसी प्रकार सुरभि भी। वह अपने प्रणयी के पथ की पंथिनी बनना ही अपने जीवन का चरमोद्देश्य समझती है। हृदय में विकलता होने पर भी वह उस पर विजय प्राप्त करती है। मानव दुर्बलता और मानव प्रबलता दोनों की संधिस्थली हो रही है तरुणी सुरभि। रोते रोते वह सो ना पड़ेगी :—

विधवेदना विकल करे मुझको सदा
रखले सजग सजीव आति या आपदा।
मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो
जीवन ज्वलित कृशानु-समान पुनीत हो^२।

मध की मैं और सुरभि—दोनों एक नारी पात्रियों में से हैं जिनको गुप्तजी की छेड़नी ने गौरवान्वित आसन दिया है; वे एक वाष्पुनीय आदर्श के प्रतीक हैं।

(ई)

‘अनघ’ नवयुग के समाज-मुधारकों एवं कार्यकर्त्ताओं के प्रति एक उदाहरण पेश करता है। सच्चे समाज-सेवी को बाधाएँ तो सहनी ही पड़ेंगी। किन्तु यदि वह अपनी धुन में लगा रहा, सुधीयों को झेड़ता रहा, तो एक न एक दिन सफ़लता मिलेगी ही।

धर्मो रक्षति धार्मिकम् ।

‘चन्द्रहास’ एक पौराणिक रूपक है। इसकी कथावस्तु संक्षेप में यों है:—कुन्तलपुर की गलियों में घूमते हुए एक अनाथ बालक चन्द्रहास को लेकर राजपुरोहित गालव राजमंत्री भृष्ट-सुसि के यहाँ आते हैं और वह भविष्यवाणी कहते हैं कि—

बया ठीक है जो यह मार्गचारी
पने तुम्हारा विषयाधिकारी^१।

किन्तु भृष्टसुसि को यह बात थक-सी लगती है, क्योंकि उसके पुत्र मदन के रहते चन्द्रहास के राज्याधिकारी होने की कल्पना केती !

भृष्टसुसि की आशा होती है कि चन्द्रहास को गहन वन में

ले जाकर मार डाला जाय। इसी प्रसंग में नियति' (Destiny) अलक्ष्य रूप से प्रवेश करती है—सब बालक के सहायक के रूप

१ नियति का रंगमंच पर सदा अलक्ष्य रूप से विराजित होना और बदलाव को मोकते चलना कला की दृष्टि से कहीं तक न्याय्य है—यह विचारणीय है। नियति तो संसार के सभी जीवन-नाटकों पर प्रभाव डालती ही है, और यही अतर्कित एवं अलक्षित प्रभाव अपनी अनुसृतता के कारण उन नाटकों का सारतत्त्व समझा जा सकता है; किन्तु कलाकार की कलात्मकता इसमें है कि नियति की इस गतिविधि को व्यञ्जना के रूप में चित्रित किया जाय न कि अभिधा के रूप में। जीवन की टेढ़ीमेढ़ी अननुमेय काल ही जीवन को असलियत की रूपरेखा देती है, वना जीवन एक मशीन हो जाय जिसके कलकैंटे हम लोग पहले ही से जानते हों, और अच्छी तरह। जिस प्रकार 'मुद्राराक्षस' में राक्षस की सभी नीतियाँ विफल होती हैं और चाणक्य की सभी नीतियाँ सफल होती हैं, वही प्रकार प्रस्तुत नाटक में भी पृथ्वुदि के सभी पदार्थ प्रत्यावर्त्ती बल (boomerang) के समान घूम फिर कर उसी के चिर पर चकरा घटने लगते हैं। गाह बगाह नियति टपक पड़ती है और चन्द्रहास की रक्षा करती है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य (पृ० १६) में ही वह पर्व पर आती है (नाटकों के पात्रों के लिये तो अदृश्य रूप से परान्त दर्शकों के लिये दृश्य रूप से) और घोषित करती है कि—'रे पृथ्वुदि ! बल है सब व्यर्थसे, भी चन्द्रहास पर है अब हाथ मेरा'। यह घोषणा एकनारणी चन्द्रहास के भावी जीवन की गतिविधि पर मानों मुहर लगा देती है, और दर्शकों के हृदय की बहुत सी उत्सुकता जाती रहती है।

में। फलतः कातिलों के दिल में भी उसके प्रतिदया आती है और उसकी जान बच जाती है। वे यह सोच कर उसे जंगल में छोड़ कर खल देते हैं कि वहाँ वह हिंस्र जन्तुओं का आहार हो ही जायगा।

वधर चन्दनावती का राजा कुलिन्दक आरोट के सिलसिले में जंगल में जाता है और चन्द्रहास को पा कर उसे पोष्यपुत्र बना लेता है। 'अपुत्रस्य गृहं शून्यं' वाले कुलिन्दक का घर भर जाता है और मर जाती है गोद राजरानी की।

× × × ×

धृष्टद्युधि की पुत्री विषया युवती हो चुकी है और विवाह-योग्य। तब मिलती है कि चन्दनावती का राजकुमार चन्द्रहास सर्वतोरूपेण विषया के योग्य है। धृष्टद्युधि 'चन्द्रहास' नाम पर चौंक पड़ता है क्योंकि उसकी समझ में यह तो कय का मर चुका है।

धृष्टद्युधि राजकान के बहाने से चन्दनावती जाता है और चन्द्रहास को देकर उसकी प्रतिहिंसा पुनः प्रबुद्ध हो उठती है। फलतः वह एक जाल रचता है जिसके द्वारा चन्द्रहास स्वयं एक गुप्त पत्र लेकर कुन्तलपुर भेजा जाता है। उस पत्र द्वारा मदन को यह निदेश दिया जाता है कि 'तुम अत्रिलम्भ इसे विषया कनी दे देना'।

चन्द्रहास उपर्युक्त पत्र को लेकर आता है और मदन से मिलने के पहले एक आराम में आराम करता है और उसे नींद आ जाती है। इसी बीच सखियों सहित विषया प्रवेश करती है

और तलवार की मूँठ पर खुदे हुए अक्षरों से जान लेती है कि यही उसका प्रणय-पात्र है। वह अकस्मात् उस पत्र को भी देखती है और अपनी आँख के काजल से कनी शब्द को मिटा देती है।

मदन को जब यह पत्र मिलता है तो वह कोई प्रयोजन-विशेष समझ कर अविलम्ब चन्द्रहास के साथ विपया के विवाह का आयोजन करता है। वे दोनों परिणय-यात्र में वैध जाते हैं। जब धृष्टद्युद्धि लौटता है तो उसे काठ मार जाता है; लेकिन करे तो क्या ! फिर भी चन्द्रहास को मरवाने की इच्छा से उसे बन में विजनेश्वरी देवी की पूजा करने जाने के लिये आदेश देता है; किन्तु मदन उसे रोक देता है और स्वयं पूजा करने चला जाता है। घातकों को गुप्त आज्ञा थी कि पूजा करनेवाले युवक की बलि दे दी जाय। किन्तु नियति सर्वत्र रक्षा के लिये तैयार थी।

इधर कुन्तलपुर के राजा कौन्तलप चन्द्रहास को राज्यभार देकर स्वयं संन्यास लेता है। उसे यह जानकर और भी प्रसन्नता होती है कि चन्द्रहास अनाथ बालक नहीं है। वह तो तत्काल फेरल देश के स्वर्गीय राजा सुधार्मिक का पुत्र है।

विजनेश्वरी देवी का मन्दिर ! मदन और धृष्टद्युद्धि दोनों पायल पड़े हैं। अपने निश्चय में बठोर होते हुए भी धृष्टद्युद्धि विपया के वैधव्य की चिन्ता से पागल सा हो गया है और अंत में दौड़ कर हत्या को रोकने की चेष्टा में मंदिर में जाता है और पायल होता है।

पीछे कौन्तलप, गालव, मदन आदि भी वहाँ आते हैं।

धृष्टद्युधि का यलुप अनुताप के हुताशन में जल कर नष्ट हो चुका है। वह चन्द्रहास के प्रति आत्मसमर्पण करता है,—और जब कौन्तलप मगधती के सामने उसे राजदंड सौंपता है तो धृष्टद्युधि की भी दुःखकामनाएँ उसके साथ थीं।

प्रस्तुत निबंध के आलोच्य विषय की दृष्टि से कथानक का अंतिम भाग—नाटक का पंचमांक—विशेष महत्वपूर्ण है। धृष्टद्युधि के चरित्र के चरम विकास में हम दानवी और दैवी मनोवृत्तियों के बीच एक अंतर्द्वन्द्व का नजारा देखते हैं। धृष्टद्युधि रंगमंच पर प्रकृति की प्रतिमूर्ति बनकर अवतीर्ण होता नजर आता है। वह चन्द्रहास को मरवा डालने का आयोजन करता है और उसे विश्वास हो जाता है कि उसका आयोजन सफल हो चुका है। वोछे चलकर जब चन्द्रहास नाम के एक युवक का पता लगता है तो, वह समझते हुए भी कि असली चन्द्रहास मारा जा चुका है, वह थोड़ा ठठठा है—“चन्द्रहास नाम से मुझे पृणा है, मैं इसे मिटा कर ही रहूँगा ! अपना मार्ग निदृष्टक करने कि डिये मैं क्या नहीं कर सकता ?” फलतः वह उस युवक को विप दिखाने की गुप्त अभिसंधि रखता है। किन्तु दैवयोग से मिलने की विप तो मिलती है विपया,—धृष्टद्युधि की निजी आँखों की पुतली, उसकी अपनी पुत्री ! उसकी प्रतिहिंसा और भी जागरूक हो उठती है और वह फिर भी छल से चन्द्रहास को मरवा डालने

का विधान करता है। परन्तु उसका यह निर्दयतापूर्ण निर्णय उसके मानस-तन्तुओं पर जबर्दस्त आघात पहुँचाता है, क्योंकि इस चार चन्द्रहास की हत्या के दामन के साथ उसकी प्यारी बेटी का वैयव्य भी बँधा हुआ है। वह पागल हो जाता है, और उसी जंगल की ओर चल पड़ता है जिसमें उसके 'दामाद' की बलि होने वाली थी। उसके हृदय में विद्रुव मचा हुआ है—एक ओर पिता की ममतामयी पत्सलता, दूसरी ओर बपों की पालन प्रतिहिंसा ! छठवार की दो घरों के बीच सड़ा है वह ! यह भय से भी शोणितकण्ठ को रोकना चाहता है, किन्तु फिर वैरी चन्द्रहास का ख्याल आते ही कलेजा टूट कर लेता है। निम्न-लिखित पंक्तियों उसकी मानसिक वृद्धन का सचा प्रतिनिधित्व करती हैं।

“तो अब क्या होगा ? विषया ही विषया होगी ! घातक अभी दूर नहीं गए होंगे। मैं दौड़ कर अभी उन्हें रोक सकता हूँ। फिर चन्द्रहास ! मेरा वैरी चन्द्रहास ! वह पक जायगा और मैं उसे देखकर मन ही मन जला दूँगा। वह नहीं हो सकता। मेरी हृदयामि लमके मरने से ही शांत हो सकती है। परन्तु फिर विषया का विलाप बाण घन कर मेरे हृदय को बिद्ध करेगा ! हाय ! विषया का विचार मुझे कायर बना देता है। दूर हो कायरता ! मैं अब टूट हूँ—वश्र का हूँ। विषया के विलाप की परपना मुझे विचलित न कर सकेगी। मैं अपने निश्चय पर निश्चल रहा, वह विचार उसके चीत्कारों से मेरे चित्त को चंचल

न होने देता। यदि विषया उसके वियोग में बिना पानी की मछली की तरह तड़प तड़प कर भर गई तो ?.....इन हाथों से दो दो हथ्याएँ ! हा ! मर्मवेदना ! हा ! यमघातना ! रहो कल्पवे ! मैं अभी यह सब रोक सकता हूँ ।”

छिछली आलोचना की दृष्टि में धृष्टद्युधि केवल घृणा का पात्र बना रहेगा; मात्रों उसके हृदय में देवी भावनाएँ हैं ही नहीं। किन्तु उपर्युक्त पंक्तियों की विचारधारा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह सिद्ध कर देता है कि उसके हृदय की तंत्री के वार से भी दिव्य संगीत की धारा प्रवाहित हो सकती थी। यदि धृष्टद्युधि के चरित्र का समवेदनात्मक अध्ययन हमें हो, तो जिसे हमने प्रतिहिंसा का नाम दिया है उसे मनस्विता की भी संज्ञा दी जा सकती है। संभवतः कालक्रम से उस के हृदय की हिंस्र मनोवृत्ति सुप्त भी हो चुकी थी, और रह गई थी केवल टोक ! किन्तु परिस्थितियों ने कुछ ऐसी राह ली कि उसकी टोक नहीं निभ सकी, तथा उसका कुपला हुआ आत्मसम्मान मर्मोहत सर्प के समान चौल्ला गया ! उसकी मनस्विता खोद खाकर चीत्कार कर उठी। उसका पागलपन इसी चीत्कार का परिणाम था।

यदि धृष्टद्युधि निसर्गतः दानव रहता तो वह अपनी क्रूरता की गहरी मजे में सम्मग्न होता; उसके मस्तिष्क के स्नायु ढीले न पड़ते—यह चद्धान्त न होता और न वह अनुताप की मट्टी में

जलता ही। किन्तु जब अनुताप की आँच ने उस की मनस्विता के कांधन पर पड़ी हुई मैल की पर्त जला कर उसे भास्वर बना दिया, तो असली धृष्टबुद्धि प्रगट हो गया—स्वार्थत्याग की भावना से परिपूर्ण एवं चन्द्रहास के लिये सुनहले वैभव का छलकता हुआ प्याला हाथ में लिये ! धृष्टबुद्धि की तुलना 'प्रसाद' के 'विशाप' के नरदेव से की जा सकती है। वह भी पीछे चलकर वसी लता को फटना के मकरंदविन्दुओं से सींचने लगा जिसे उसने आमूल छिन्न करने की ठानी थी। विशाप के प्रति जो उस की प्रविद्धिसाभावना थी वह अंत में शुभकामना में परिणत हो गई।

गुप्तजी ने जिस रूप में धृष्टबुद्धि को हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह हमारी अनुकम्पा और समवेदना का अधिकारी है न कि तिरस्कार और भर्त्सना का। वह हमारे लिये दानवता पर मानवता की विजय की अमर कहानी लेकर अवतीर्ण हुआ है; अवतीर्ण हुआ है लेकर भीतिरुता के पतन में आध्यात्मिकता के अभ्युत्थान का सुन्दर संगीत।

कारण्यजनक प्रसंग का दूसरा उदाहरण है वह स्थल जहाँ धृष्टबुद्धि के सेवक अशोक बालक चन्द्रहास को मारने के परेक्ष से जंगल में ले जा रहे हैं। उनके मुख से मारने की बात सुनकर जब चन्द्रहास अपनी तोतली बोली में यह कहता है कि "तुम मुझे मारने को लाये हो ? अब हलिमंदिल किजनी दूळ है ?"—उस समय एक ओर उस निर्दोष शिशु का मोलापन,

और दूसरी ओर उस किये जाने वाले प्रचण्ड प्रहार की दारुणता—
 दोनों की तुलना करके रोंगटे सहिर उठते हैं। चाहे निर्बल पर
 भी प्रहार क्यों न किया जाय, किन्तु यदि प्रहार की घड़ी उस
 निर्बल व्यक्ति को पहले से विदित हो, तो उसकी परिस्थिति उतनी
 दर्दनाक न होगी, जितनी उस व्यक्ति की, जिस पर आपाततः
 प्रहार किया जाता हो, चाहे प्रहार्य व्यक्ति सबल ही क्यों न हो।
 जिस समय चन्द्रहास विनाश के गहरे गर्त के किनारे चल रहा
 था उस समय भी मानों उसे स्वर्ग की भमराइयाँ दीखती थीं।
 कल्पना एवं दृश्यता के बीच का यह विकट वैषम्य—जिसका
 ज्ञान चन्द्रहास को न था, परन्तु उसके भावी कातिलों को था—
 नाटक के इस प्रसंग को अत्यन्त ही मार्मिक बना देता है। अतः
 जब हम आगे चल कर यह जानते हैं कि उन कातिलों का भी
 हृदय यह सोच कर विचल उठता है कि—

यह सुकंठ अभी कट जायगा
 मगुर हास्य सभी हट जायगा
 सरल भाव कहीं वह जायेंगे
 रुनिर मांस पड़े रह जायेंगे^१ !—

तो हमारे हृदय में संतोष की मृदुल तरंगें छलक पड़ती हैं
 कि न्याय का गला रूँघने नहीं पाया। कातिलों के सामने भी

बहुत घड़ी ललझन थी । एक ओर तो सेवावृत्ति के नाते कर्तव्य-
भावना, दूसरी ओर मानवता के नाते शिशुत्व पर दया ।

इधर तो करुणा पकड़े खड़ी
उधर धार्मिकता जकड़े खड़ी
यह प्रसंग पड़ा अति घोर है
कठिनता समझो सब ओर है ।

गुप्तजी ने इस 'घोर' प्रसंग में धार्मिकता के ऊपर करुणा
का प्राधान्य स्थापित करके न केवल अपनी प्रतिभा की नैसर्गिक
वृत्ति के प्रति न्याय ही किया है, अपितु पाश्चात्य कवि की उन
अमर पंक्तियों की तार्किक भी की है, जिनमें यह गाथा है—

नहीं है करुणा की विभूति श्रमजन्य ;
बरसती, ज्यों रिमझिम बूंदें पर्जन्य ।
बनी है मंगलमय यह उभय प्रकार
पात्र, दानी,—दोनों के उर का हार ।

१ चन्द्रहास पृ० २४ ।

२ Shakespeare : Merchant of Venice.

The quality of mercy is not strain'd.

It droppeth as the gentle rain from heaven

Upon the place beneath: it is twice blest,—

It blesseth him that gives and him that takes.

छायावृत्त सेवक द्वारा ।

चन्द्रहास पर करुणा की अमृत-श्रद्धा बरसा कर घृष्टबुद्धि के दूतों ने न केवल चन्द्रहास को जीवनदान दिया, अपितु स्वयं भी एक ऐसे पुण्य के भागी हुए जो दुर्गम मार्ग से चलती हुई मानवता को युगों तक दीपक दिखायगा ।

अनुवाद-ग्रन्थ

यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध का गुप्तजी के अनुवाद-ग्रन्थों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है तथापि उनके संक्षेप उल्लेख इस कारण अपेक्षित हैं कि, यदि यह मान भी लिया जाय कि दूसरे कवियों अथवा लेखकों की रचनाओं में हम अनुवादक की मौलिक भावनाएँ प्रतिफलित नहीं पाते, वे तो प्रामोफोन के भाषान्तरित रेकर्ड के समान अथवा दुभापिये के वक्तव्य के समान 'इयों की त्यों घरदीनी चदरिया' हैं; तथापि एक विशिष्ट विचार-बिन्दु से उन में भी हम लेखक की आत्मा को टटोल सकते हैं—उस की मनोभावना को प्रतिबिम्बित पा सकते हैं। यह विचार-बिन्दु है—लेखक की रुचिविशेष, जिससे प्रेरित होकर वह अनुवाद के लिये मूलग्रन्थों को चुनता है। जब हजारों हजार पुस्तकें उस के सामने पड़ी हों, और उन में से केवल दो-चार की वह छोट निकाले, तो इस संचयन के पीछे उस के मानस-मधुष की विशिष्ट

मनोवृत्ति अवश्य काम करती होगी । इसी दृष्टि से हमें यह विचार करना है कि मैथिलीशरण गुप्त 'मधुप' द्वारा किये गए मूल पुस्तकों के संचयन में भी कौन-सी आधारभूत सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है ।

जिन मूल-पुस्तकों को 'मधुप' ने अनुवाद के लिये चुना, वे मुख्यतः ये हैं—

ग्रन्थ	मूल लेखक	मूल भाषा
पलासी का युद्ध,	नवीन चंद्र सेन	बंगाल
विरहिणी प्रजागिना,	मधुसूदन दत्त	"
मेघनाद वध,	"	"
रघुनाथ उमर सप्तम,	फिट्जेराल्ड	अंगरेजी
(मूल फारसी से रूपान्तर)		

स्वप्न-वासवदत्ता , भास संस्कृत ।

यदि इन अनुवाद ग्रन्थों की कथावस्तु का अनुशीलन किया जाय तो मालूम होगा कि सबों में कारण्य की धारा ही प्रधान रूप से प्रवाहित हो रही है ।

उदाहरणतः 'विरहिणी प्रजागिना' और 'मेघनाद-वध' ये संझाएँ ही इन पुस्तकों के धनीमूल कारण्य की परिचायक हैं । 'पलासी का युद्ध' में भी कारण्य रस ही प्रधान है, न कि वीररस,

१ मैथिलीशरण गुप्त ने अनुवादों में अपना नामान्तर 'मधुप' ही रक्खा है । वही कही पूरा नाम भी दिया गया है ।

क्योंकि शास्त्र के नेतृत्व में अंगरेजों की विजय भले ही कथानक की मुख्य घटना हो, किन्तु उसका मर्मभेदी एवं परम पिन्दु है विराजुरौला का कारावास और वध । अंतिम अर्धान् पंचम सर्ग की पुंक्ति पंक्ति से करुण रस प्रखचित हो रहा है । काव्य की अंतिम चार पंक्तियाँ इस कथन का साक्षित्व करेंगी :—

दुर्बल दीपक के प्रकाश में दमक उठी असि जब गिरी ।
भू पर गिरा सितजन—खोद्य कट और रधिर-भारा फिरी ॥
वुझा इसी क्षण घर का दीपक जो प्रकाश था सो गया ।
भारत की अंतिम आशा का अन्त भवानक हो गया ।^१

‘दशाश्यात समर खण्ड्याम’ के मणि-मंडित मधुपात्रों और नयन-नर्सिनी नर्तकियों के शन्द्रघनुषी चित्रण भी निराशावाद के काले भन्नपट के ही आघार पर निखरे हैं । समर निराशावादी था, रस के लिये संसार मिथ्या था ।—

सांसारिक लिप्साएँ जिन पर आशा करते हैं हम लोग ।
मिट्टी में सब मिल जाती हैं पाकर सो बिजों के रोग ॥
कहीं फूटती फलती भी हैं तो बस घड़ी दो घड़ी ही ।
ज्यों मर के दूसर मुख पर हो हिमदण की आभा क्य योग ॥^२

१ पल्लवी का दुन्द पृ० ११० (३५म संस्करण) ।

२ एचई संस्का १४ ।

अथवा

अरे, चले आओ, विज्ञों को करने दो वक्रवाद फिजूल ।
 एक बात निश्चित है, क्षण क्षण उड़ती है जीवन की धूल ॥
 केवल एक बात निश्चित है शेष और सब मिथ्या है—
 मुरझा जाता है सदैव को, एक बार खिलता जो फूल ॥

ऐसे पद्य हमर की नैराश्यमयी मनोभावना के प्रतीक हैं और अनायास ही हमारी जीवन-शून के करुण और कोमल तारों को छूकर उन्हें सजग कर देते हैं ।

‘श्वप्रवासवदत्ता’ भास के ‘श्वप्रवासवदत्तम्’ नामक संस्कृत नाटक का अनुवाद है । इसका नायक उदयन है और प्रधान नायिका वासवदत्ता । उदयन वासवदत्ता से प्रेम करता था, किन्तु उस के राज्य की रक्षा के लिये आवश्यक था कि उसका विवाह मगधराज दर्शक की बहन पद्मावती से हो । अतः मंत्रियों ने पद्म्यन्त्र द्वारा वासवदत्ता को लुप्त कर दिया और उदयन को विश्वास दिलाया कि उसकी प्रेयसी लल कर मर गई । किन्तु मंत्रियों ने वासवदत्ता को पद्मावती के वहां धरोहर के रूप में रखा छोड़ा था । अपने पति की शुभकामना को ध्यान में रखते हुए वासवदत्ता अज्ञात रूप से रहने लगी और अपनी आँखों पद्मावती के साथ उसका विवाह होते देखा, और देखा दोनों को परस्पर प्रेम का आदानप्रतिदान करते भी; किन्तु अपने दृढ़ निश्चय से इष्ट भर भी विचलित न हुई । कालक्रम से परिस्थितियों की

कुछ पैसे आकरिषक जुटान हुई जिससे चदन को वासवदत्ता की वस्तुस्थिति का पता लगा, और फिर दो थिलुड़े प्रेमी एकत्र हुए। वासवदत्ता ने जिस कठोर असिधार-व्रत का पालन किया, जिस चरम आत्मत्याग का परिचय दिया, जिस स्वर्गिक स्त्री-सुलभ सौजन्य का उद्गावन किया, उसने उसे भारतीय नारीत्व के इतिहास में अमर कर दिया है।

× × × ×

सारांश यह है कि अनुवाद के लिये भी 'मधुप' ने साहित्य-सुमन-स्थली से ऐसे ही सुमन चुने हैं जिन से कारुण्य के मकरन्द-विन्दुओं का आस्वादन सुलभ हो।

गुप्तीय भाव-चित्रावली

भावकार—धर्मेन्द्र

चित्रकार—हादी और इस्माइल

रक्षित किया गया है। लेखक का दृष्टिकोण संतुष्ट नहीं है; निर्भीक काल-विरोध के काव्य में केन्द्रित न हो कर विसृत है।... 'हरिऔध'-साहित्य के पाठकों के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

सद्गुरुशरण अवस्थी:—'प्रियप्रणय' की समीक्षा प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी में ऐसी उच्च कौटि की समीक्षाएँ निकलने लगी हैं। यह ग्रन्थ बड़े ही शिरो-पूर्ण ढंग से पढ़पात रहित हो कर भी धृष्ट और सहानुभूति के साथ लिखा गया है। निर्भीक कृतिको कितने पहलुओं में देखना चाहिए हमका ज्ञान शार्पजी की है। वे देखना और दिखाना दोनों जानते हैं। बीच-बीच में समीक्षा तर्कों की भी व्याख्या की गयी है।

गोपाल व्यास, एम. ए., साहित्यरत्न:—महाकवि 'हरिऔध' उन गिने-बुने महारथियों में से हैं जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट काव्यकृतियों से आधुनिक हिन्दी-साहित्य की श्रीगृहि में योग दिया है। उन्होंने 'प्रियप्रणय' के रूप में हिन्दी के गरीबोली-काव्य को वह अमूल्य उपहार दिया है, जिसका महत्त्व सदा अधुना रहेगा। ऐसी उत्कृष्ट रचना के संयोज में वैसी ही उत्कृष्ट आलोचना मनुष्य के पुस्तक का अन्त हमारे समीक्षा-साहित्य की दरिद्रता का परिचायक था। हर्ष का विषय है, पटना कांग्रेस के हिन्दी-अध्यापक श्री घमोन्द्र मदानारी शर्मा, एम. ए. (प्रतिपक्ष) ने 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रणय' लिए कर

‘प्रिय प्रवास’-विषयक सुंदर आलोचना प्रस्तुत की है। विद्वान् लेखक ने काव्य की अन्तरंग और महिरंग विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन किया है। कवि के प्रति सर्वत्र श्रद्धा रखते हुए भी निष्पक्षरूप से आपने ‘प्रिय-प्रवास’ की विशेषताओं का मार्मिक उद्घाटन किया है। आपकी भाषा-शैली पुष्ट, अलंकृत और विवेचन के सर्वथा उपयुक्त है। वास्तव में, ‘प्रिय-प्रवास’-जैसे ग्रंथ पर निष्पक्ष और विद्वत्पूर्ण आलोचना लिखकर आपने हिन्दी के समीक्षा-साहित्य को एक उत्कृष्ट भेंट दी है।

प्रो० घमैन्द्र की प्रमुख रचनाएँ:—

१. महाकवि हरिऔध का विषयवास—अध्यक्ष-रामनाथमल लाल,
एटाहाबाद, मूल्य १)
२. सुसूत्री के काव्य की कारणधारा— „ पुस्तक भंडार, लखनौ-
सराय (बिहार), मू. २॥)
३. रमणी-निर्माण (काव्य)— „ पुस्तक भंडार, लखनौ-
सराय, मूल्य ॥)
४. सूर-समालोचना—मिलने का पता—मोतीलाल बनारसी दास, पटना ।